आर० एस० नायक

बनाम

ए० आर० अंतुले

(R. S. Nayak)

v.

A. R. Antulay)

तथा

पदमाकर बालकृष्णा सामंत

बनाम

अब्दुल रहमान अंतुले और एक अन्य

(Padmakar Balkrishna Samant

v.

Abdul Rehman Antulay and Another)

(16 फरवरी, 1984)

(न्यायाधिपति डी० ए० देसाई, आर० एस० पाठक, ओ० चिनप्पा रेड्डी, ए० पी० सेन और बालकृष्ण एराडि)

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 (1947 का 2)—धारा 6 (सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 21)—अभियोजन के लिए सक्षम प्राधिकारी की मंजूरी मुख्य मंत्री की हैसियत से कतिपय अपराधों के किए जाने के लिए प्रत्यर्थी का अभियोजन किया जाना—प्रत्यर्थी का अपराध का संज्ञान किए जाने की तारीख को मुख्य मंत्री के पद पर न रहना—ऐसे व्यक्ति के अभियोजन के लिए मंजूरी लेने की अपेक्षा नहीं है जहां कि अपराध का संज्ञान उस समय किया गया है जब कि वह मुख्य मंत्री के पद पर नहीं रहा है, यद्यपि वह अभी भी विधान सभा सदस्य है।

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 (1947 का 2)—धारा 6 (सपठित दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 197)—

1984(2) eILR(PAT) SC 1

अपराध का संज्ञान करने से पूर्व सक्षम प्राधिकारी की मंजूरी—अभियुक्त का मुख्य मंत्री के पद पर कार्य करना—संज्ञान की तारीख को अभियुक्त का मुख्य मंत्री के पद से इस्तीफा देना—न्यायालय द्वारा अपराध के संज्ञान करने की तारीख को अभियुक्त लोक सेवक नहीं रह गया था और इस प्रकार धारा 6 लागू नहीं होती ।

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 (1947 का 2)—धारा 6—मंजूरी प्राधिकारी—अभियुक्त का अपराध करने की तारीख को राज्य का मुख्य मंत्री होना—अपराध का संज्ञान करने के समय अभियुक्त का मुख्य मंत्री के पद पर न रहना किन्तु विधान सभा का सदस्य बना रहना—अभियुक्त का अभियोजन करने के लिए राज्यपाल की मंजूरी अभिप्राप्त करना—जहां कि अभियुक्त बहुत से लोक पद धारण किए हुए हो वहां मंजूरी देने वाला सक्षम प्राधिकारी ऐसा अधिकारी होगा जो उसे उस पद से हटाने के लिए सक्षम हो जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया है कि उस पद का उसने भ्रष्ट हेतुक के लिए दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है ।

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 (1947 का 2)—धारा 5 और 6—पद—शक्ति पद को प्रदत्त होती है और ऐसी शक्ति का भ्रष्ट उपयोग उस पद के धारक द्वारा किया जाता है ।

भारतीय दंड संहिता, 1860 (1860 का 45)—धारा 21, बारहवां (क) [सपठित महाराष्ट्र लेजिसलेचर मेम्बर्स सेलरीज एंड अलाउंसिस ऐक्ट, 1956 की धारा 3, 4, 5, 5(क) और संविधान के अनुच्छेद 12, 170, 178 से 187, 195, 203, 204 और 226]—अभियुक्त का अपराध के संज्ञान की तारीख को विधान सभा सदस्य होना—अभियुक्त के अभियोजन के लिए मंजूरी लिए जाने का प्रश्न उठाया जाना—विधानसभा सदस्य न तो सरकार के वेतन में है और न ही वह कार्यपालिक सरकार द्वारा किसी लोक कर्तव्य को करने के लिए फीस द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त है अतः वह लोक सेवक नहीं है ।

भारतीय दंड सहिता, 1860 (1860 का 45)—धारा 21, तृतीय (सपठित संविधान का अनुच्छेद 13)—विधानसभा सदस्य किन्हीं न्यायिक कर्तव्यों को नहीं करता है क्योंकि वह किसी व्यक्ति को परिरोध में रखने के लिए सशक्त नहीं है। विधि शब्द में संविधान सम्मिलित है ।

कानूनों का निर्वाचन—बाहरी सहायता—समितियों और आयोगों की रिपोर्टों का, जिनके आधार पर अधिनियम अधिनियमित किया जाता है, अवलंब लिया जा सकता है तथा शब्दकोशों के अर्थ को कानून में आने वाले शब्दों के संदर्भ में समझा जाना चाहिए।

कानूनों का निर्वाचन—तत्कालीन व्याख्या—प्राचीन कानूनों का अर्थान्वयन उन परिवर्ती परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए जबकि कानून अधिनियमित किया गया था किन्तु यह नियम आधुनिक कानूनों को या उन कानूनों को, जिनकी भाषा साफ और स्पष्ट है लागू नहीं होता है। ऐसे अर्थान्वयन से जो बेतुका हो, बचना चाहिए।

पद्धति और प्रक्रिया—सामान्यतया किसी निर्णय में शैक्षणिक प्रश्नों का अवधारण करने की आवश्यकता नहीं होती।

अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी के विरुद्ध जो उस समय महाराष्ट्र का मुख्यमंत्री था मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के न्यायालय में यह अभिकथन करते हुए एक परिवाद फाइल किया कि अभियुक्त ने मुख्यमंत्री की अपने हैसियत में और उसके द्वारा भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के अर्थान्तर्गत लोक सेवक की हैसियत से भारतीय दंड संहिता की धारा 161, 165 और 1947 के अधिनियम की धारा 5, भारतीय दंड संहिता की धारा 384 और 420 सपठित भारतीय दंड संहिता की धारा 109 और 120 ख के अधीन अपराध किए हैं। मजिस्ट्रेट ने यह अभिनिर्धारित किया कि भारतीय दंड संहिता की धारा 161 और 165 और 1947 के अधिनियम की धारा 5 के अधीन अभिकथित अपराधों से संबंधित परिपाद अधिनियम की धारा 6 के अधीन अपेक्षित मंजूरी की अनुपस्थिति में चलने योग्य नहीं था। प्रत्यर्थी ने 12 जनवरी, 1982 को मुख्यमंत्री के अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया और वह 20 जनवरी, 1982 से उस पद पर नहीं रहा किन्तु विधान सभा सदस्य बना रहा। 12 अप्रैल, 1982 को मजिस्ट्रेट के आदेश के विरुद्ध परिवादी अपीलार्थी द्वारा फाइल की गयी विशेष दांडिक अपील उच्च न्यायालय द्वारा खारिज कर दी गयी। उच्च न्यायालय के विनिश्चय के विरुद्ध अनुच्छेद 136 के अधीन राज्य द्वारा विशेष इजाजत लेकर फाइल की गयी अपील उच्चतम न्यायालय ने 28 जुलाई, 1982 को महाराष्ट्र राज्य **बनाम** आर० एस० नायक के मामले में अपने विनिश्चय के द्वारा मंजूर कर दी। इस पर महाराष्ट्र के राज्यपाल ने उसी दिन अधिनियम की धारा 6 के अधीन मंजूरी देने वाले आदेश में उपवर्णित विनिर्दिष्ट आरोपों के सम्बन्ध में

1984(2) eILR(PAT) SC 1

अभियुक्त का अभियोजन करने की मंजूरी अनुदत्त कर दी। परिवादी ने तब 9 अगस्त, 1982 को बम्बई के विशेष न्यायाधीश के न्यायालय में अभियुक्त प्रत्यर्थी के विरुद्ध नए सिरे से एक परिवाद फाइल कर दिया। विशेष न्यायाधीश ने उसी दिन अपराध का संज्ञान कर लिया और आदेशिका जारी कर दी। इसके पश्चात् मामले को एक अन्य विशेष न्यायाधीश को अंतरित कर दिया जिस ने अंततः 23 जुलाई, 1983 के अपने आदेश के द्वारा अभियुक्त की इस दलील को पुष्ट कर दिया कि चाहे अभियुक्त अपराध का संज्ञान करने की तारीख को मुख्यमंत्री नहीं रहा था वह महाराष्ट्र विधान सभा का सदस्य था और इसलिए भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के अर्थान्तर्गत लोक सेवक था और कि जब तक कि विधान सभा सदस्य के उसके पद से उसे हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी द्वारा उसका अभियोजन करने की मंजूरी अभिप्राप्त नहीं कर ली जाती जो विशेष न्यायाधीश की राय में महाराष्ट्र विधान सभा थी, अभियुक्त दोष मुक्ति का हकदार था। विशेष न्यायाधीश के आदेश और विनिश्चय को अपास्त करते हुए और यह निर्देश देते हुए कि विचारण उस प्रक्रम से शुरू होगा जहां से कि अभियुक्त को मुक्त किया गया था उच्चतम न्यायालय ने अपील मंजूर करते हुए।

अभिनिर्धारित—1947 का अधिनियम, जैसा कि इसका लम्बा शीर्षक दर्शाता है, रिश्वत और भ्रष्टाचार को रोकने के लिए प्रभावी उपबन्ध करने हेतु अधिनियमित किया गया था इसलिए अविवादास्पद रूप से अधिनियम के उपबन्धों का न्यायालय के हाथों में वहीं अर्थान्वयन किया जाना चाहिए जो अधिनियम के अधीन उद्देश्य और प्रयोग को बढ़ा सके और किसी भी प्रकार से उसे पराजित नहीं कर सके। यह कानून के शब्द स्पष्ट और साफ हैं तो न्यायालय का यह स्पष्ट कर्तव्य है कि वह उपबंध में प्रयुक्त शब्दों के सही अर्थ को प्रभावी करे। अर्थान्वयन का प्रश्न संदिग्धता की दशा में ही उद्भूत होता है या कानून में प्रयुक्त शब्दों का स्पष्ट अर्थ आत्मघाती होगा। न्यायालय इस बात को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण कानून के उपबन्ध का अर्थान्वयन करने, अस्पष्टता को दूर करने और विधानमंडल के आशय को अभिनिश्चित करने का हकदार है कि यदि कोई रिष्टि हो जबकि कानून अधिनियमित किया गया था उसे दूर करना चाहिए जिसके लिए विधानमंडल ने कानून को अधिनियमित किया था। अर्थान्वयन का नियम इस सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया गया है कि इसे पूर्वोदाहरणों द्वारा समर्थित करने की आवश्यकता नहीं है। अर्थान्वयन के इस नियम को स्वीकार करते हुए जबकि अर्थान्वयन का कोई प्रश्न संदिग्धता

पर उद्भूत होता है या जहां किसी उपबंध के दो दृष्टिकोण संभव हों तो न्यायालय का यह कर्तव्य होगा कि वह उस अर्थान्वयन को स्वीकार करे जो अधिनियम के अधीन उद्देश्य को आगे बढ़ाने और रिश्वत और भ्रष्टाचार को रोकने के लिए प्रभावी उपबंध करने के लिए और किसी भी प्रकार से उसे पराजित करने के लिए न हो। (पैरा 18)

विधिमान्य मंजूरी का अस्तित्व उन प्रगणित अपराधों का संज्ञान करने के लिए है। इसलिए जब न्यायालय को ऐसे अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा जाता है तो उसे इस बात की जांच करनी चाहिए कि क्या लोक सेवक को उसके द्वारा लोक सेवक की हैसियत में किए जाने के लिए अभिकथित अपराध के लिए अभियोजित करने हेतु विधिमान्य मंजूरी है। निःसंदेह अभियुक्त को उस समय लोक सेवक होना चाहिए जबकि उसके बारे में अपराध किए जाने का अभिकथन किया गया है जिसका कि वह अभियुक्त है, क्योंकि भारतीय दंड संहिता की धारा 161, 164, 165 और 1947 के अधिनियम की धारा 5 (2) स्पष्ट रूप से यह दर्शाती हैं कि उसमें परिभाषित अपराध लोक सेवक द्वारा किए जा सकते हैं। यदि लोक सेवक का अभियोजन करने का अनुध्यान है जिसने ऐसे अपराध किए हैं तो जब न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा जाता है तो मंजूरी उपलब्ध होनी चाहिए अन्यथा न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने की अधिकारिता नहीं है। विधिमान्य मंजूरी के बिना विचारण को जहां कि यह धारा 6 के अधीन आवश्यक है न्यायालय द्वारा अधिकारिता-विहीन विचारण अभिनिर्धारित किया गया है। विधिमान्य मंजूरी की समाप्ति वह समय है जबकि न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा जाता है। इसलिए यदि जबकि अपराध के किए जाने का अभिकथन किया गया है वह लोक सेवक नहीं रहा है तो उसके विरुद्ध अपराध का संज्ञान करने के लिए किसी मंजूरी की आवश्यकता नहीं होगी। यह दृष्टिकोण धारा 6 में अन्तर्निहित नीति के अनुसरण में है जिसमें लोक सेवक को निरर्थक और कल्पित अभियोजन के लिए परेशान नहीं किया जा सकता। यदि वह इस दौरान लोक सेवक नहीं रहा है तो यह प्रमुख विचार अस्तित्व में नहीं रहता। आवश्यक सहज परिणामस्वरूप यदि अभियुक्त उस समय लोक सेवक नहीं रहा है जबकि न्यायालय को लोक सेवक के रूप में उसके द्वारा किए गए अभिकथित अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा गया है तो धारा 6 लागू नहीं होती यह पहलू अब अनिर्णीत विषय नहीं रहा है। (पैरा 19)

1984(2) eILR(PAT) SC 1

भारतीय दंड संहिता की धारा 161, 164 और 165 तथा 947 के अधिनियम की धारा 5 में विहित अपराधों का लोक सेवक पद के साथ घनिष्ठ और अविभेद्य सम्बन्ध हैं। लोक सेवक पद को धारण करता है तो उसे लोक सेवक बनाता है और पद को धारण करने के साथ पद को प्रदत्त शक्तियां होती हैं। सामान्यतया शक्ति किसी व्यष्टिक व्यक्ति को प्रदत्त नहीं की जाती। विधि के नियम द्वारा शासित समाज में शक्ति पद को प्रदत्त की जाती है या कानूनी हैसियत द्वारा अर्जित की जाती है और व्यष्टि जो पद का अधिभोग करता है या जिसे हैसियत प्रदत्त की गयी है उस पद की शक्ति का उपभोग करता है या शक्ति हैसियत से प्रवाहित होती है। केवल पद के धारक को ही उस पद का दुष्प्रयोग या दुरुपयोग करने का अवसर प्राप्त होता है। यह धाराएं एक निश्चित स्वयं-सिद्धि को संहिताबद्ध करती हैं कि शक्ति का रूझान भ्रष्टाचार की ओर होता है। पद का धारण करना उसे भ्रष्ट हेतुक के लिए प्रयोग करने का अवसर प्रदान करता है। इसलिए भ्रष्ट आचरण प्रत्यक्षतः पद द्वारा प्रदत्त शक्ति पर निर्भर है और उससे प्रवाहित होता है। व्यष्टि और पद के बीच जिसे वह धारण करता है यह परस्पर सम्बन्ध और परस्पर तंत्रता सारभूत है और विभाजनीय नहीं है। धारा 6 की उपधारा (1) के तीन खंडों में से प्रत्येक पद अभिव्यक्ति का प्रयोग करता है और मंजूरी अनुदत्त करने की शक्ति लोक सेवक को उसके पद से हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी को प्रदत्त की गयी है और धारा 6 लोक सेवक द्वारा किए गए अपराध का संज्ञान करने से पूर्व मंजूरी की अपेक्षा करती है। लोक सेवक द्वारा पद की शक्ति का दुष्प्रयोग या दुरुपयोग करके अपराध किया जाता है और उस पद से उसे हटाने के लिए प्राधिकारी को सक्षम होना चाहिए जिससे कि वह मंजूरी प्रदत्त करने का हकदार हो सके। हटाये जाने से पद और पद के धारक के बीच परस्पर सम्बन्ध समाप्त हो जायेगा। दुरुपयोग करने के अवसर के साथ शक्ति और पद के धारक के बीच सम्बन्ध पद से अलग करके पृथक कर दिया जायेगा इसलिए जब कोई लोक सेवक किसी शासकीय कार्य को करने या करने से विरत रहने के लिए किसी स्थानीय पारिश्रमिक से भिन्न किसी परितोषण को प्राप्त करने के अपराध से अभियोजित किया जाता है (भारतीय दंड संहिता की धारा 161) या लोक सेवक की हैसियत में धारा 161 और 163 के अधीन दंडनीय अपराधों को करता है (भारतीय दंड संहिता की धारा 164) या लोक सेवक की हैसियत से ऐसे लोक सेवक द्वारा की गई किसी कार्यवाही या किए गए किसी कारबार में सम्बन्धित व्यक्ति से प्रतिफल के बिना किसी मूल्यवान वस्तु को अभिप्राप्त करता है (भारतीय दंड संहिता की धारा 165) या 1947 के

अधिनियम की धारा 5 में यथापरिभाषित दांडिक कदाचार कारित करता है तो विभिन्न अपराधों में यह बात स्पष्ट है कि लोक सेवक ने लोक सेवक की हैसियत में उसके द्वारा धारित पद की शक्ति का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है धारा 6(1) के तीन उपखंडों में "पद" अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से उस पद को प्रकट करती है जिसका लोक सेवक ने भ्रष्ट हेतुक के लिए दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है जिसके लिए उसका अभियोजन किया जाना है और जिसके सम्बन्ध में उसका अभियोजन करने के लिए मंजूरी उस पद से जिसका कि उसने दुरुपयोग किया है उसे हटाने के लिए हकदार सक्षम प्राधिकारी द्वारा आवश्यक है। पद और उसके दुरुपयोग के सम्बन्ध में यह परस्पर सम्बन्ध यदि अलग कर दिया जाए तो धारा 6 को अर्थविहीन कर देगा। और वह परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट रूप से धारा 6 में उपबन्ध को समझने के लिए स्पष्ट संकेत का उपबन्ध करता है जिसमें सक्षम प्राधिकारी द्वारा मंजूरी का उपबन्ध है जो वर्जन को दूर करने से पूर्व लोक सेवक की कार्यवाही का निर्णय करने में समर्थ होगा मंजूरी अनुदत्त करके लोक सेवक के विरुद्ध न्यायालय द्वारा अपराध का संज्ञान करेगा इसलिए अविवादास्पद रूप से यह पता चलता है कि अभियोजन करने की मंजूरी लोक सेवक को उस पद से हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी द्वारा दी जाती है जिसका उसने दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है क्योंकि केवल वह प्राधिकारी ही इस बात को जानने में समर्थ हो सकेगा कि क्या लोक सेवक द्वारा पद का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया गया है और कोई बाहरी पदाधिकारी नहीं। विनिश्चयों की एक लम्बी श्रेणी के द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि मंजूरी अनुदत्त करने के हकदार प्राधिकारी को मामले के तथ्यों पर ध्यान देना चाहिए, साक्ष्य एकत्रित करना चाहिए और मंजूरी देने से पूर्व अन्य सहायक तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए। मंजूरी का अनुदान मात्र एक औपचारिकता नहीं है किन्तु एक पवित्र और पावन कार्य है जो निरर्थक अभियोजनों के विरुद्ध सरकारी सेवकों के संरक्षण के आवरण को दूर करता है और इसलिए उपरोक्त अभ्यपेक्षाओं का कठोरता से अनुपालन किया जाना चाहिए पूर्व इसके कि लोक सेवकों के विरुद्ध अभियोजन शुरू किया जा सके। प्रज्ञापित रूप से विधानमंडल ने लोक सेवक को पद से हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी को शक्ति प्रदत्त की है जिससे कि इस स्पष्ट कारण के लिए मंजूरी अनुदत्त कर सके कि वह प्राधिकारी ही, जबकि उसके समक्ष तथ्य और साक्ष्य रखे जायेंगे, इस बात का निर्णय करने में समर्थ होगा कि क्या कोई गम्भीर अपराध किया गया है या अभियोजन या तो निरर्थक है या काल्पनिक है। वह प्राधिकारी ही इस बात का निर्णय करने के लिए सक्षम होगा कि क्या अभिकथित तथ्यों पर लोक सेवक द्वारा धारित पद का दुरुपयोग या

दुष्प्रयोग किया गया है । वह प्राधिकारी ही जानने की स्थिति में होगा कि जो शक्ति उसके पद को प्रदत्त की गई थी जिसे लोक सेवक धारित करता है किस प्रकार से उस शक्ति का भ्रष्ट हेतुक के लिए दुरुपयोग किया जा सकता है और कि क्या प्रथम दृष्टया ऐसा किया गया है । केवल वह सक्षम प्राधिकारी ही उस पद को धारण करने वाले लोक सेवक द्वारा पालन किए जाने वाले कर्तव्यों और उसकी प्रकृति को जानेगा और कि क्या उसमें से किसी का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया गया है । लोग सेवक को उस पद से हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी और लोक सेवक द्वारा जिसके विरुद्ध मंजूरी की मांग की गई है धारित पद के स्वरूप के बीच यह एक शीर्ष सोपानतन्त्र है जो इस सोपानतन्त्र को उपदर्शित करेगा और इसलिए जो उस पद के कार्यों और कर्तव्यों के बारे में है और लोक सेवक द्वारा उसके दुरुपयोग या दुष्प्रयोग के बारे में ज्ञान के अनुमान को अनुज्ञात करेगा । यही कारण है कि विधान मंडल ने स्पष्ट रूप से इस बात का उपबन्ध किया कि वह प्राधिकारी की मंजूरी अनुदत्त करने के लिए सक्षम होगा जो लोक सेवक को जिसके विरूद्ध पद से मंजूरी चाही गई है, हटाने का हकदार होगा । (पैरा 23)

धारा 6 का ऐसा निर्वचन बेईमान लोक सेवक की रक्षा करेगा, संरक्षण में हितबद्ध कोई व्यक्ति उसे लोक सेवक के एक पद से एक अन्य पद में बदल देगा और उसके द्वारा विधि की प्रक्रिया को व्यर्थ कर देगा । विधिमान्य रूप से कोई व्यक्ति ऐसी स्थिति की परिकल्पना कर सकता है जहां कि कोई व्यक्ति दर्जनों भिन्न पद धारण किए हुए है जिनमें से प्रत्येक भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के अधीन उसे लोक सेवक की हैसियत देता है और चाहे उसने केवल एक पद का दुरुपयोग किया है जिसके लिए या तो उसका अभियोजन करने के लिए विधिमान्य मंजूरी है या वह कुछ समय तक उस पद को छोड़ चुका है न्यायालय को संज्ञान करने के लिए कहा गया है, फिर भी इस धारणा पर 11 भिन्न सक्षम प्राधिकारियों की मंजूरी जिनमें से प्रत्येक उसे 11 भिन्न-भिन्न लोक पदों से हटाने की हकदार थी ऐसे लोक सेवक द्वारा किए गए अपराध का संज्ञान न्यायालय द्वारा किए जाने से पूर्व आवश्यक होगा जबकि एक पद का दुरुपयोग जो कि वह छोड़ चुका है उसने किया था । ऐसा निर्वचन अर्थान्वयन के सभी सिद्धांतों के प्रतिकूल और इससे असंगतता पैदा होती है और उसकी आवश्यकता से बचना चाहिए । विधान का सभी प्रकार से इस प्रकार निर्वचन करना चाहिए कि जिससे कि यह धूर्त प्रपत्र के रूप में प्रवर्तित न हो सके । (पैरा 24)

यदि किसी विधान के अर्थान्वयन का अन्तर्विष्ट मूल प्रयोजन संसद् के वास्तविक आशय को अभिनिश्चित करना है तो उन सहायताओं को जो संसद् को

उपलब्ध हैं जैसा कि अधिनियम से पूर्व विशेष समिति की रिपोर्ट, विद्यमान कानून की विधिक स्थिति, वे परिस्थितियां जिनसे विधान का अधिनियम आवश्यक हुआ और प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य से न्यायालय को मना नहीं करना चाहिए जिसका मुख्य कर्तव्य विधान अधिनियमन में संसद् के वास्तविक आशय को प्रभावी करना है। ऐसी मनाही न्यायालय को अर्थान्वयन के एक सारभूत और ज्वलंत सहायता से वंचित कर देगी। इसलिए पूर्व इंगलिश विनिश्चयों से अलग होने से हमारी यह राय है कि समिति की रिपोर्टें जो विधान के अधिनियमन से पूर्व की थीं, संयुक्त संसदीय समिति की रिपोर्ट अधिनियमन के लिए सूचना एकत्रित करने के लिए स्थापित आयोग की रिपोर्ट अर्थान्वयन के लिए अनुज्ञेय बाहरी सहायताएं हैं। (पैरा 34)

भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के खण्ड (12) के इतिहास को इस बात को विनिश्चित करने के दृष्टिकोण से तलाश करने में कि क्या विधान-सभा सदस्य धारा 12 के खंडों में से किसी में समाविष्ट होगा जिससे कि वह लोक सेवक है प्रारंभ में इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि भारतीय दंड संहिता सन् 1860 का कानून है जबकि निर्वाचित विधानमण्डल नहीं होते थे और सूतराम वहां पर कोई विधान सभा सदस्य नहीं थे चाहे मेकाले को एक स्वप्नदृष्टा न्याय-निर्णीत किया जाए जो सन् 1860 में अपने समय के काफी पीछे झांक सके इस बात का पूर्वानुमान लगाना उसके लिए अबोधगम्य था कि भारत में ऐसा सांविधानिक विकास होगा और निर्वाचित विधानमण्डल स्थापित हो जाएंगे इसकी कल्पना नहीं थी जिसके सदस्यों को किसी और बात के बिना धारा 21 के उपखण्डों में से किसी में लोक सेवक के रूप में समाविष्ट किया जाएगा। निस्संदेह विधानमण्डल का गठन सामान्यतया अस्थिर प्रकार का नहीं है, किन्तु इसे अधिनियमित किया जाता है और काफी लम्बे समय तक इसे स्टेट्यूट बुक पर रखा जाता है जब तक कि वह समाज जिसके लिए बनाया गया है उस में क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हो जाता जिससे कि विधि असंगत या अव्यवहार्य न बन जाए। कोई स्वप्नदृष्टा उन सम्भव परिवर्तनों का अनुमान कर सकता है जो विद्यमान स्थिति के साथ परस्पर सम्बन्ध रखते हों और जो एक दूसरे तक जाते हों। किन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन जो सन् 1857 में स्वतंत्रता के प्रथम युद्ध के पश्चात् समाप्त हो गया था सम्भव क्रांतिकारी परिवर्तनों का अनुमान करना कठिन था जो सन् 1919 तक हो गया था। किसी भी प्रकार से उस समय जब कि भारतीय दंड संहिता अधिनियमित की गई थी निर्वाचित विधानमण्डल नहीं था और इसलिए कोई विधान सभा सदस्य

1984(2) eILR(PAT) SC 1

नहीं थे। किसी कानून का विनिर्दिष्ट रूप से अर्थान्वयन करने में न्यायालय परिवर्ती परिस्थितियों को देखता है जब कि कानून अधिनियमित किया गया था। हैल्सबरीज द्वारा लिखित लाज आफ इंग्लैंड, चौथा संस्करण, भाग 44 पैरा 898 में यह मत व्यक्त किया गया था कि प्राचीन कानूनों का अर्थान्वयन उस भाषा के द्वारा स्पष्ट किया जा सकेगा जिसे न्यायालय समकालीन प्रतिपादन की भाषा कहते हैं अर्थात् यह देखकर कि किस प्रकार से उन्हें उस समय समझा गया था जबकि उन्हें पारित किया गया था। निस्संदेह इस सिद्धांत को आधुनिक कानूनों पर लागू नहीं किया जा सकता या वास्तव में ऐसे किसी कानून को जिसका अर्थ न्यायालय को स्पष्ट और असंदिग्ध दिखाई देता हो। किसी भी प्रकार से उचित रूप से कोई भी यह कह सकता है कि विधान सभा सदस्य को धारा 21 के खण्डों में किसी में भी लोक सेवक के रूप में समाविष्ट नहीं किया गया है जबकि भारतीय दंड संहिता सन् 1860 में अधिनियमित की गई थी। (पैरा 35)

"सरकार द्वारा" शब्द संशोधित खण्ड (12) (क) में जोड़े गए हैं। स्पष्ट रूप से इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। इसलिए आवश्यक रूप से इससे यह पता चलता है कि खण्ड (9) और (12) का संशोधन उनके संशोधन से पूर्व और संशोधन के समय से दो खण्डों के सीमा क्षेत्र और अर्थान्वयन में कोई परिवर्तन नहीं लाता। यदि ऐसी बात है तो आवश्यक अनुमान के रूप में इसका यह अर्थ होगा कि यदि विधान सभा सदस्य 1964 के अधिनियम संख्या 40 से पूर्व अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक नहीं था अधिनियम के होने के समय से विधिक प्रभाव और लोक सेवक अभिव्यक्ति का सीमा क्षेत्र अपरिवर्तित रहता है और इसलिए विधान सभा सदस्य खण्ड (12) (क) में समाविष्ट "लोक सेवक" नहीं है। इस प्रकार से जैसा कि पता चला है कि धारा 21 के इतिहास और प्रगति को देखने से यह बात स्पष्ट है कि सन् 1964 तक विधान सभा सदस्य को "लोक सेवक" अभिव्यक्ति के भीतर बोधगम्य रूप से समाविष्ट नहीं किया जा सकता था और विधि में संशोधन के समय से कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके प्रतिकूल संथानम समिति की सिफारिश जिसने मंत्रियों और संसदीय सचिवों को सम्मिलित करने की सिफारिश की थी किन्तु विधानसभा सदस्यों को नहीं, ने पृथक् रूप से विधानसभा सदस्यों के लिए पृथकतः भ्रष्टाचार की आशंका से उन्हें बचाने के लिए एक आचार संहिता की सिफारिश की थी जो स्पष्ट रूप से और सही रूप से यह दर्शाती है कि सन् 1964 तक विधान सभा सदस्य भारतीय दंड संहिता की धारा 21 में "लोक सेवक" अभिव्यक्ति में समाविष्ट नहीं था और सन् 1964 के संशोधन अधिनियम संख्या 40 के

द्वारा संशोधन इस बारे में विधान सभा सदस्य की स्थिति के सम्बन्ध में तनिक मात्र भी परिवर्तन नहीं किया है। इसलिए किसी अन्य बात के अतिरिक्त धारा 21 के ऐतिहासिक विकास पर जिसे अर्थान्वयन की बाहरी सहायता के रूप में अंगीकृत किया गया है निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि विधान सभा सदस्य भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के खण्डों में से किसी में भी अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत "लोक सेवक" न तो था और न है। (पैरा 42)

"वेतन में" अभिव्यक्ति से यह स्पष्ट नहीं है कि दाता और आदाता के बीच स्वामी-सेवक का सम्बन्ध अस्तित्व में होना चाहिए। कोई व्यक्ति किसी दूसरे के नियोजन या सेवा में हुए बिना किसी अन्य व्यक्ति के वेतन में हो सकता है। हम इस दलील को स्वीकार करने के लिए प्रवृत्त नहीं हैं कि वेतन में इस सन्दर्भ में इस स्पष्ट कारण के लिए स्वामी सेवक सम्बन्ध को विवक्षित करे कि न्यायालय को उसके विन्यास में "के वेतन में" वाक्यांश का अर्थान्वयन करना होता है जहां कि यह "सरकार की सेवा में" अभिव्यक्ति से पूर्व आता है और उसके बाद "सरकार द्वारा किसी सार्वजनिक कार्य के लिए फीस या कमीशन द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त करता है" अभिव्यक्ति आती है। विन्यास और सन्दर्भ किसी अभिव्यक्ति के सही अर्थ को अभिनिश्चित करने के लिए काफी सुसंगत है। पुनरुक्ति के आरोप से बचने के लिए खण्ड (12) (क) में "सरकार के वेतन में" वाक्यांश में ऐसी स्थिति समाविष्ट है कि कोई भी व्यक्ति सरकार के वेतन में हुए बिना या वेतन प्राप्त करने वाले व्यक्ति और आदाता के रूप में सरकार के बीच स्वामी-सेवक का सम्बन्ध हुए बिना सरकार के वेतन में हो सकता है। (पैरा 50)

"सरकार के वेतन में" वाक्यांश का आवश्यक रूप से स्वामी-सेवक सम्बन्ध का आशय नहीं है। यह कहना पूर्णतः संभव है कि कोई व्यक्ति सरकार के वेतन में हो सकता है यदि उसे सरकार द्वारा उसे न्यस्त समनुदेशन के उन्मोचन के विचार में संदाय किया जाता है जिसमें उनके बीच स्वामी-सेवक सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। सामान्य भाषा में यह बात असाधारण नहीं है कि ऐसे व्यक्ति के बारे में किसी अन्य के वेतन में कहा जाए यदि उसे किसी अन्य की इच्छा के अनुसार या उसके कहने पर कार्य करने के लिए संदाय किया जाता है और उस दूसरे का स्वामी होना और उसका सेवक होना आवश्यक नहीं है अर्थात् काम करने के ढंग पर जो स्वामी-सेवक के सम्बन्ध को विवक्षित करता है किसी नियन्त्रण के बिना। "सरकार की सेवा में" के अतिरिक्त एक श्रेणी है जिसे खण्ड (12) (क) में समाविष्ट किया गया है। (पैरा 51)

1984(2) eILR(PAT) SC

विधानमंडल एक विस्तृत नीति अधिकथित करता है और उसे खर्चे की शक्ति प्राप्त है। कार्यपालिका उस नीति को निष्पादित करती है और समेकित नीति से खर्च करती है जो विधानमंडल मंजूर कर देता है। विधान सभा ने अधिनियम अधिनियमित किया जो अपने सदस्यों को वेतन और भत्ते संदाय करने के लिए सक्षम करता है। और सदस्य अनुदान पर मतदान करते हैं और अपने आपको संदाय करते हैं। इस पृष्ठ भूमि में चाहे इस संदाय को वितरण करने के लिए कोई अधिकारी हो या वह वेतन बिल बनाना हो ऐसे तथ्य नहीं हैं जो मामले के निर्णायक हैं। यह मात्र संदाय की पद्धति है किन्तु विधान सभा सदस्य मतदान के द्वारा सुसंगत कानून के अधीन उन्हें संदेय वेतन और भत्तों के लिए परिव्यय के प्रयोजनों के लिए सुरक्षित निधि को रखते हैं। इसलिए यद्यपि विधान सभा सदस्य वेतन और भत्ते प्राप्त करता है, वह राज्य सरकार के वेतन में नहीं है क्योंकि राज्य के विधानमंडल में "राज्य सरकार" अभिव्यक्ति अन्तर्विष्ट नहीं है। (पैरा 56)

यदि विधान सभा सदस्य कार्यपालिक सरकार के भाव में सरकार के वेतन में नहीं है या उसे कार्यपालिक सरकार द्वारा किसी सार्वजनिक कार्य के करने के लिए फीस द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त नहीं होता है तो निश्चित रूप से वह खण्ड (12)(क) की अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत "लोक सेवक" अभिव्यक्ति में समाविष्ट नहीं होगा। इस प्रकार से वह खण्ड (12)(क) की अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक नहीं है। यह निष्कर्ष फिर से पूर्व निष्कर्ष को बल देता है जिस पर हम खण्ड(12)(क) के ऐतिहासिक विकास की परीक्षा करने के पश्चात् पहुंचे थे। (पैरा 60)

विशेषाधिकार के भाग या सदन के अवमान के लिए कार्यवाही करने के लिए प्रस्ताव पर बहस में भाग लेना और उस पर मतदान करना सदस्यों द्वारा निर्वहन किए जाने वाला एक संवैधानिक कर्त्तव्य है और इसलिए यह कहा जा सकता है कि ऐसा न्याय निर्णयन सम्बन्धी कर्त्तव्य यदि इसे ऐसा नाम दिया जाए विधि द्वारा यथा सशक्त विधान सभी सदस्य द्वारा किया गया न्याय निर्णायक कर्त्तव्य है। इस दृष्टिकोण से विचार करते हुए इस दलील की परीक्षा करना आवश्यक नहीं है कि न्याय निर्णयन और परिणामी निर्णय न्याय निर्णायक न्याय निर्णायक से भिन्न अन्य व्यक्तियों के बीच मुकदमें के पूर्व नहीं होता जब तक कि वह अवमान के लिए या विशेषाधिकार के भंग के लिए प्रस्ताव पेश करता है। तदनुसार दलील कि अभियुक्त भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के खण्ड 3 में अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक होगा, नामंजूर किया जाना चाहिए। (पैरा 65)

यह कहना कि विधान सभा सदस्य अपने पद के कारण निर्णय करने का कार्य या कारावास अधिकारियों का कर्त्तव्य करता, भाषा का निरादर करने के अतिरिक्त हैसियत में उसको कम करना है। इसके अतिरिक्त खण्ड 3 किसी न्याय निर्णायक कर्त्तव्य के बारे में नहीं कहता। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें ऐसी स्थितियां सम्मिलित हैं जहां कि किसी दांडिक कार्य में न्याय निर्णायक कर्त्तव्य के प्रारम्भ का यह अधिकार अंतिम स्थिति सम्मिलित हो जो कारावास का दंडादेश अधिरोपित कर सके और उसके पद के कारण उसके द्वारा उन्मोचित किए जाने के लिए कर्तव्य के प्रयोग में कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को परिधि में रख सकता है। विभिन्न दृष्टिकोणों से उस दलील की सूक्ष्म परीक्षा करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि विधान सभा सदस्य भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के खण्ड (12)(क) के खण्ड (3) और (7) की अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक नहीं है। (पैरा 66 और 67)

अवलम्बित निर्णय

पैरा

[1982] (1992) 1 आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 582 : **सम्राट बनाम ब्लैक्सहाम** (R. *v.* Blexham); 34

[1981] (1981) ऑल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 443 : **सम्राट बनाम उल्लुगबोजा** (R. *v.* Ulugboja); 34

[1979] [1979] 2 एस० सी० आर० 1007 : **मौहम्मद इकबाल अहमद बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य** (Mohd. Iqbal Ahmed *v.* State of Andhra Pradesh); 19, 23

[1979[[1979] 3 एस० सी० आर० 832 : **के० एस० धर्मादातन बनाम केन्द्रीय सरकार और अन्य** (K. S. Dharamadatan *v.* Central Government and Others); 19

1984(2) eILR(PAT) SC 1

[1976] [1976] 3 एस० सी० आर० 160 :
स्टेट बैंक आफ इंडिया बनाम **एन० सुन्दरामणि**
(State Bank of India *v.* N. Sundra Money) ; 49

[1975] (1975) 1 आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 810 :
ब्लैक कलाउसन इंटरनेशनल लिमिटेड बनाम **पेपियर वर्क वालडेफ एसछेफन वर्ग एस० सी०**
(Black-Clawson International Limited *v.* Papierworke Waldhef Ascheffenburg S. C.) ; 34

[1974] [1974] 2 एस० सी० आर० 827 :
कामता प्रसाद अग्रवाल और अन्य बनाम **एग्जीक्यूटिव इंजीनियर, बल्लबगढ़ और एक अन्य**
(Kamta Prasad Aggarwal and Others *v.* Executive Engineer, Ballabgarh and Another) ; 45

[1974] [1974] 1 एस० सी० आर० 589 :
मैसूर राज्य बनाम **आर० वी० बिदाप**
(State of Mysore *v* R. V. Bidap) ; 33, 34

[1973] [1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1 :
महामहिम केशवानंद भारती श्रीपदनागलवेरू बनाम **केरल राज्य और एक अन्य**
(H. H. Keshvanand Bharathi Sripadanagalavaru *v.* State of Kerala and Another) ; 64

[1971] [1971] 3 एस० सी० आर० 236 :
सी० आर० बंशी बनाम **महाराष्ट्र राज्य**
(C. R. Bansi *v.* State of Maharashtra) ; 19

आर० एस० नायक ब० ए० आर० अंतुले 675

[1971] [1971] 2 एस० सी० आर० 507 :
उप मुख्य नियन्त्रक आयात और निर्यात, नई दिल्ली बनाम के० टी० कौशलराम और अन्य
(Deputy Chief Controller of Imports and Exports, New Delhi *v.* K. T. Kosalram and Others); 49

[1970] ए० आई० आर० 1970 गुजरात 97 :
मानशंकर प्रभाशंकर द्विवेदी और एक अन्य बनाम गुजरात राज्य
(Manshanker Prabhashanker Dwivedi and Another *v.* The State of Gujarat); 42, 66

[1968] [1968] 3 एस० सी० आर० 561 :
एस० एन० बोस बनाम बिहार राज्य
(S. N. Bose *v.* State of Bihar); 19

[1967] [1967] 1 एस० सी० आर० 836 :
बाबू मनमोहन दास शाह और अन्य बनाम बिशन दास
(Babu Manmohan Das Shah and Others *v.* Bishan Das); 45

[1963] [1963] 1 एस० सी० आर० 121 :
आर० आर० चारी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य
(R. R. Chari *v.* State of Uttar Pradesh); 19

[1958] [1958] एस० सी० आर० 1040 :
एस० ए० वेंकटरमन बनाम राज्य
(S. A. Venkatarman *v.* The State); 19,25

[1928] (1928) 1के० बी० 561 :
ग्रीन बनाम प्रीमियर ग्लीनहर्नवे स्लेट कम्पनी लिमिटेड
(Green *v.* Premier Glynrhonwy State Company Limited); 45

[1917] (1917) 62 लां एडीशन 1130 :
यूनाइटेड स्टेट्स बनाम सेंट पाल, एम० एम० रेलवे कम्पनी
(United States *v.* St. Paul, M. M. Railway Company). 34

अननुमोदित निर्णय

[1972] (1972) 2 आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 1135 :
सेंट्रल एस्बेस्टोज कम्पनी लिमिटेड बनाम डोड
(Central Asbestos Company Limited *v.* Dodd); 32

[1934] (1934) आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 646 (पुन: मुद्रित) :
असम रेलवेज एण्ड ट्रेडिंग कम्पनी लिमिटेड बनाम इनलेंड रेवेन्यु कमिश्नर्स
(Assam Railways and Trading Co. Ltd. *v.* Inland Revenue Commissioners); 32, 33,34

[1895] (1895) आई० एल० आर० 22 कलकत्ता 788 :
एडमिनिस्ट्रेटर जनरल आफ बंगाल बनाम प्रेम लाल मलिक और अन्य
(Administrator General of Bengal *v.* Premlal mullick and Others). 32

प्रभेदित निर्णय

[1971] [1971] 3 एस० सी० आर० 365 :
कमिश्नर आफ इन्कम-टैक्स, आन्ध्र प्रदेश, हैदराबाद बनाम जयलक्ष्मी राइस एण्ड आयल मिल्स कंट्रेक्टर कम्पनी लिमिटेड
Commissioner of Income-Tex, Andhra Pradesh, Hyderabad *v.* Jayalakshmi Rice and Oil Mills Contractor Company Limited); 34

पर उद्भूत होता है या जहां किसी उपबंध के दो दृष्टिकोण संभव हों तो न्यायालय का यह कर्तव्य होगा कि वह उस अर्थान्वयन को स्वीकार करे जो अधिनियम के अधीन उद्देश्य को आगे बढ़ाने और रिश्वत और भ्रष्टाचार को रोकने के लिए प्रभावी उपबंध करने के लिए और किसी भी प्रकार से उसे पराजित करने के लिए न हो। (पैरा 18)

विधिमान्य मंजूरी का अस्तित्व उन प्रगणित अपराधों का संज्ञान करने के लिए है। इसलिए जब न्यायालय को ऐसे अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा जाता है तो उसे इस बात की जांच करनी चाहिए कि क्या लोक सेवक को उसके द्वारा लोक सेवक की हैसियत में किए जाने के लिए अभिकथित अपराध के लिए अभियोजित करने हेतु विधिमान्य मंजूरी है। निःसंदेह अभियुक्त को उस समय लोक सेवक होना चाहिए जबकि उसके बारे में अपराध किए जाने का अभिकथन किया गया है जिसका कि वह अभियुक्त है, क्योंकि भारतीय दंड संहिता की धारा 161, 164, 165 और 1947 के अधिनियम की धारा 5 (2) स्पष्ट रूप से यह दर्शाती हैं कि उसमें परिभाषित अपराध लोक सेवक द्वारा किए जा सकते हैं। यदि लोक सेवक का अभियोजन करने का अनुध्यान है जिसने ऐसे अपराध किए हैं तो जब न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा जाता है तो मंजूरी उपलब्ध होनी चाहिए अन्यथा न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने की अधिकारिता नहीं है। विधिमान्य मंजूरी के बिना विचारण को जहां कि यह धारा 6 के अधीन आवश्यक है न्यायालय द्वारा अधिकारिता-विहीन विचारण अभिनिर्धारित किया गया है। विधिमान्य मंजूरी की समाप्ति वह समय है जबकि न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा जाता है। इसलिए यदि जबकि अपराध के किए जाने का अभिकथन किया गया है वह लोक सेवक नहीं रहा है तो उसके विरुद्ध अपराध का संज्ञान करने के लिए किसी मंजूरी की आवश्यकता नहीं होगी। यह दृष्टिकोण धारा 6 में अन्तर्निहित नीति के अनुसरण में है जिसमें लोक सेवक को निरर्थक और कल्पित अभियोजन के लिए परेशान नहीं किया जा सकता। यदि वह इस दौरान लोक सेवक नहीं रहा है तो यह प्रमुख विचार अस्तित्व में नहीं रहता। आवश्यक सहज परिणामस्वरूप यदि अभियुक्त उस समय लोक सेवक नहीं रहा है जबकि न्यायालय को लोक सेवक के रूप में उसके द्वारा किए गए अभिकथित अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा गया है तो धारा 6 लागू नहीं होती यह पहलू अब अनिर्णीत विषय नहीं रहा है। (पैरा 19)

1984(2) eILR(PAT) SC 1

भारतीय दंड संहिता की धारा 161, 164 और 165 तथा 947 के अधिनियम की धारा 5 में विहित अपराधों का लोक सेवक पद के साथ घनिष्ठ और अविभेद्य सम्बन्ध हैं। लोक सेवक पद को धारण करता है तो उसे लोक सेवक बनाता है और पद को धारण करने के साथ पद को प्रदत्त शक्तियां होती हैं। सामान्यतया शक्ति किसी व्यष्टिक व्यक्ति को प्रदत्त नहीं की जाती। विधि के नियम द्वारा शासित समाज में शक्ति पद को प्रदत्त की जाती है या कानूनी हैसियत द्वारा अर्जित की जाती है और व्यष्टि जो पद का अधिभोग करता है या जिसे हैसियत प्रदत्त की गयी है उस पद की शक्ति का उपभोग करता है या शक्ति हैसियत से प्रवाहित होती है। केवल पद के धारक को ही उस पद का दुष्प्रयोग या दुरुपयोग करने का अवसर प्राप्त होता है। यह धाराएं एक निश्चित स्वयं-सिद्धि को संहिताबद्ध करती हैं कि शक्ति का रूझान भ्रष्टाचार की ओर होता है। पद का धारण करना उसे भ्रष्ट हेतुक के लिए प्रयोग करने का अवसर प्रदान करता है। इसलिए भ्रष्ट आचरण प्रत्यक्षत: पद द्वारा प्रदत्त शक्ति पर निर्भर है और उससे प्रवाहित होता है। व्यष्टि और पद के बीच जिसे वह धारण करता है यह परस्पर सम्बन्ध और परस्पर तंत्रता सारभूत है और विभाजनीय नहीं है। धारा 6 की उपधारा (1) के तीन खंडों में से प्रत्येक पद अभिव्यक्ति का प्रयोग करता है और मंजूरी अनुदत्त करने की शक्ति लोक सेवक को उसके पद से हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी को प्रदत्त की गयी है और धारा 6 लोक सेवक द्वारा किए गए अपराध का संज्ञान करने से पूर्व मंजूरी की अपेक्षा करती है। लोक सेवक द्वारा पद की शक्ति का दुष्प्रयोग या दुरुपयोग करके अपराध किया जाता है और उस पद से उसे हटाने के लिए प्राधिकारी को सक्षम होना चाहिए जिससे कि वह मंजूरी प्रदत्त करने का हकदार हो सके। हटाये जाने से पद और पद के धारक के बीच परस्पर सम्बन्ध समाप्त हो जायेगा। दुरुपयोग करने के अवसर के साथ शक्ति और पद के धारक के बीच सम्बन्ध पद से अलग करके पृथक कर दिया जायेगा इसलिए जब कोई लोक सेवक किसी शासकीय कार्य को करने या करने से विरत रहने के लिए किसी स्थानीय पारिश्रमिक से भिन्न किसी परितोषण को प्राप्त करने के अपराध से अभियोजित किया जाता है (भारतीय दंड संहिता की धारा 161) या लोक सेवक की हैसियत में धारा 161 और 163 के अधीन दंडनीय अपराधों को करता है (भारतीय दंड संहिता की धारा 164) या लोक सेवक की हैसियत से ऐसे लोक सेवक द्वारा की गई किसी कार्यवाही या किए गए किसी कारबार में सम्बन्धित व्यक्ति से प्रतिफल के बिना किसी मूल्यवान वस्तु को अभिप्राप्त करता है (भारतीय दंड संहिता की धारा 165) या 1947 के

अधिनियम की धारा 5 में यथापरिभाषित दांडिक कदाचार कारित करता है तो विभिन्न अपराधों में यह बात स्पष्ट है कि लोक सेवक ने लोक सेवक की हैसियत में उसके द्वारा धारित पद की शक्ति का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है धारा 6(1) के तीन उपखंडों में "पद" अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से उस पद को प्रकट करती है जिसका लोक सेवक ने भ्रष्ट हेतुक के लिए दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है जिसके लिए उसका अभियोजन किया जाना है और जिसके सम्बन्ध में उसका अभियोजन करने के लिए मंजूरी उस पद से जिसका कि उसने दुरुपयोग किया है उसे हटाने के लिए हकदार सक्षम प्राधिकारी द्वारा आवश्यक है। पद और उसके दुरुपयोग के सम्बन्ध में यह परस्पर सम्बन्ध यदि अलग कर दिया जाए तो धारा 6 को अर्थविहीन कर देगा। और वह परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट रूप से धारा 6 में उपबन्ध को समझने के लिए स्पष्ट संकेत का उपबन्ध करता है जिसमें सक्षम प्राधिकारी द्वारा मंजूरी का उपबन्ध है जो वर्जन को दूर करने से पूर्व लोक सेवक की कार्यवाही का निर्णय करने में समर्थ होगा मंजूरी अनुदत्त करके लोक सेवक के विरुद्ध न्यायालय द्वारा अपराध का संज्ञान करेगा इसलिए अविवादास्पद रूप से यह पता चलता है कि अभियोजन करने की मंजूरी लोक सेवक को उस पद से हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी द्वारा दी जाती है जिसका उसने दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है क्योंकि केवल वह प्राधिकारी ही इस बात को जानने में समर्थ हो सकेगा कि क्या लोक सेवक द्वारा पद का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया गया है और कोई बाहरी पदाधिकारी नहीं। विनिश्चयों की एक लम्बी श्रेणी के द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि मंजूरी अनुदत्त करने के हकदार प्राधिकारी को मामले के तथ्यों पर ध्यान देना चाहिए, साक्ष्य एकत्रित करना चाहिए और मंजूरी देने से पूर्व अन्य सहायक तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए। मंजूरी का अनुदान मात्र एक औपचारिकता नहीं है किन्तु एक पवित्र और पावन कार्य है जो निरर्थक अभियोजनों के विरुद्ध सरकारी सेवकों के संरक्षण के आवरण को दूर करता है और इसलिए उपरोक्त अभ्यपेक्षाओं का कठोरता से अनुपालन किया जाना चाहिए पूर्व इसके कि लोक सेवकों के विरुद्ध अभियोजन शुरू किया जा सके। प्रज्ञापित रूप से विधानमंडल ने लोक सेवक को पद से हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी को शक्ति प्रदत्त की है जिससे कि इस स्पष्ट कारण के लिए मंजूरी अनुदत्त कर सके कि वह प्राधिकारी ही, जबकि उसके समक्ष तथ्य और साक्ष्य रखे जायेंगे, इस बात का निर्णय करने में समर्थ होगा कि क्या कोई गम्भीर अपराध किया गया है या अभियोजन या तो निरर्थक है या काल्पनिक है। वह प्राधिकारी ही इस बात का निर्णय करने के लिए सक्षम होगा कि क्या अभिकथित तथ्यों पर लोक सेवक द्वारा धारित पद का दुरुपयोग या

दुष्प्रयोग किया गया है । वह प्राधिकारी ही जानने की स्थिति में होगा कि जो शक्ति उसके पद को प्रदत्त की गई थी जिसे लोक सेवक धारित करता है किस प्रकार से उस शक्ति का भ्रष्ट हेतुक के लिए दुरुपयोग किया जा सकता है और कि क्या प्रथम दृष्टया ऐसा किया गया है । केवल वह सक्षम प्राधिकारी ही उस पद को धारण करने वाले लोक सेवक द्वारा पालन किए जाने वाले कर्तव्यों और उसकी प्रकृति को जानेगा और कि क्या उसमें से किसी का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया गया है । लोग सेवक को उस पद से हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी और लोक सेवक द्वारा जिसके विरुद्ध मंजूरी की मांग की गई है धारित पद के स्वरूप के बीच यह एक शीर्ष सोपानतन्त्र है जो इस सोपानतन्त्र को उपदर्शित करेगा और इसलिए जो उस पद के कार्यों और कर्तव्यों के बारे में है और लोक सेवक द्वारा उसके दुरुपयोग या दुष्प्रयोग के बारे में ज्ञान के अनुमान को अनुज्ञात करेगा । यही कारण है कि विधान मंडल ने स्पष्ट रूप से इस बात का उपबन्ध किया कि वह प्राधिकारी की मंजूरी अनुदत्त करने के लिए सक्षम होगा जो लोक सेवक को जिसके विरूद्ध पद से मंजूरी चाही गई है, हटाने का हकदार होगा । (पैरा 23)

धारा 6 का ऐसा निर्वचन बेईमान लोक सेवक की रक्षा करेगा, संरक्षण में हितबद्ध कोई व्यक्ति उसे लोक सेवक के एक पद से एक अन्य पद में बदल देगा और उसके द्वारा विधि की प्रक्रिया को व्यर्थ कर देगा । विधिमान्य रूप से कोई व्यक्ति ऐसी स्थिति की परिकल्पना कर सकता है जहां कि कोई व्यक्ति दर्जनों भिन्न पद धारण किए हुए है जिनमें से प्रत्येक भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के अधीन उसे लोक सेवक की हैसियत देता है और चाहे उसने केवल एक पद का दुरुपयोग किया है जिसके लिए या तो उसका अभियोजन करने के लिए विधिमान्य मंजूरी है या वह कुछ समय तक उस पद को छोड़ चुका है न्यायालय को संज्ञान करने के लिए कहा गया है, फिर भी इस धारणा पर 11 भिन्न सक्षम प्राधिकारियों की मंजूरी जिनमें से प्रत्येक उसे 11 भिन्न-भिन्न लोक पदों से हटाने की हकदार थी ऐसे लोक सेवक द्वारा किए गए अपराध का संज्ञान न्यायालय द्वारा किए जाने से पूर्व आवश्यक होगा जबकि एक पद का दुरुपयोग जो कि वह छोड़ चुका है उसने किया था । ऐसा निर्वचन अर्थान्वयन के सभी सिद्धांतों के प्रतिकूल और इससे असंगतता पैदा होती है और उसकी आवश्यकता से बचना चाहिए । विधान का सभी प्रकार से इस प्रकार निर्वचन करना चाहिए कि जिससे कि यह धूर्त प्रपत्र के रूप में प्रवर्तित न हो सके । (पैरा 24)

यदि किसी विधान के अर्थान्वयन का अन्तर्विष्ट मूल प्रयोजन संसद् के वास्तविक आशय को अभिनिश्चित करना है तो उन सहायताओं को जो संसद् को

उपलब्ध हैं जैसा कि अधिनियम से पूर्व विशेष समिति की रिपोर्ट, विद्यमान कानून की विधिक स्थिति, वे परिस्थितियां जिनसे विधान का अधिनियम आवश्यक हुआ और प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य से न्यायालय को मना नहीं करना चाहिए जिसका मुख्य कर्तव्य विधान अधिनियमन में संसद् के वास्तविक आशय को प्रभावी करना है। ऐसी मनाही न्यायालय को अर्थान्वयन के एक सारभूत और ज्वलंत सहायता से वंचित कर देगी। इसलिए पूर्व इंगलिश विनिश्चयों से अलग होने से हमारी यह राय है कि समिति की रिपोर्टें जो विधान के अधिनियमन से पूर्व की थीं, संयुक्त संसदीय समिति की रिपोर्ट अधिनियमन के लिए सूचना एकत्रित करने के लिए स्थापित आयोग की रिपोर्ट अर्थान्वयन के लिए अनुज्ञेय बाहरी सहायताएं हैं। (पैरा 34)

भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के खण्ड (12) के इतिहास को इस बात को विनिश्चित करने के दृष्टिकोण से तलाश करने में कि क्या विधान-सभा सदस्य धारा 12 के खंडों में से किसी में समाविष्ट होगा जिससे कि वह लोक सेवक है प्रारंभ में इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि भारतीय दंड संहिता सन् 1860 का कानून है जबकि निर्वाचित विधानमण्डल नहीं होते थे और सूतराम वहां पर कोई विधान सभा सदस्य नहीं थे चाहे मेकाले को एक स्वप्नदृष्टा न्याय-निर्णीत किया जाए जो सन् 1860 में अपने समय के काफी पीछे झांक सके इस बात का पूर्वानुमान लगाना उसके लिए अबोधगम्य था कि भारत में ऐसा सांविधानिक विकास होगा और निर्वाचित विधानमण्डल स्थापित हो जाएंगे इसकी कल्पना नहीं थी जिसके सदस्यों को किसी और बात के बिना धारा 21 के उपखण्डों में से किसी में लोक सेवक के रूप में समाविष्ट किया जाएगा। निस्संदेह विधानमण्डल का गठन सामान्यतया अस्थिर प्रकार का नहीं है, किन्तु इसे अधिनियमित किया जाता है और काफी लम्बे समय तक इसे स्टेट्यूट बुक पर रखा जाता है जब तक कि वह समाज जिसके लिए बनाया गया है उस में क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हो जाता जिससे कि विधि असंगत या अव्यवहार्य न बन जाए। कोई स्वप्नदृष्टा उन सम्भव परिवर्तनों का अनुमान कर सकता है जो विद्यमान स्थिति के साथ परस्पर सम्बन्ध रखते हों और जो एक दूसरे तक जाते हों। किन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन जो सन् 1857 में स्वतंत्रता के प्रथम युद्ध के पश्चात् समाप्त हो गया था सम्भव क्रांतिकारी परिवर्तनों का अनुमान करना कठिन था जो सन् 1919 तक हो गया था। किसी भी प्रकार से उस समय जब कि भारतीय दंड संहिता अधिनियमित की गई थी निर्वाचित विधानमण्डल नहीं था और इसलिए कोई विधान सभा सदस्य

1984(2) eILR(PAT) SC 1

नहीं थे। किसी कानून का विनिर्दिष्ट रूप से अर्थान्वयन करने में न्यायालय परिवर्ती परिस्थितियों को देखता है जब कि कानून अधिनियमित किया गया था। हैल्सबरीज द्वारा लिखित लाज आफ इंग्लैंड, चौथा संस्करण, भाग 44 पैरा 898 में यह मत व्यक्त किया गया था कि प्राचीन कानूनों का अर्थान्वयन उस भाषा के द्वारा स्पष्ट किया जा सकेगा जिसे न्यायालय समकालीन प्रतिपादन की भाषा कहते हैं अर्थात् यह देखकर कि किस प्रकार से उन्हें उस समय समझा गया था जबकि उन्हें पारित किया गया था। निस्संदेह इस सिद्धांत को आधुनिक कानूनों पर लागू नहीं किया जा सकता या वास्तव में ऐसे किसी कानून को जिसका अर्थ न्यायालय को स्पष्ट और असंदिग्ध दिखाई देता हो। किसी भी प्रकार से उचित रूप से कोई भी यह कह सकता है कि विधान सभा सदस्य को धारा 21 के खण्डों में किसी में भी लोक सेवक के रूप में समाविष्ट नहीं किया गया है जबकि भारतीय दंड संहिता सन् 1860 में अधिनियमित की गई थी। (पैरा 35)

"सरकार द्वारा" शब्द संशोधित खण्ड (12) (क) में जोड़े गए हैं। स्पष्ट रूप से इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। इसलिए आवश्यक रूप से इससे यह पता चलता है कि खण्ड (9) और (12) का संशोधन उनके संशोधन से पूर्व और संशोधन के समय से दो खण्डों के सीमा क्षेत्र और अर्थान्वयन में कोई परिवर्तन नहीं लाता। यदि ऐसी बात है तो आवश्यक अनुमान के रूप में इसका यह अर्थ होगा कि यदि विधान सभा सदस्य 1964 के अधिनियम संख्या 40 से पूर्व अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक नहीं था अधिनियम के होने के समय से विधिक प्रभाव और लोक सेवक अभिव्यक्ति का सीमा क्षेत्र अपरिवर्तित रहता है और इसलिए विधान सभा सदस्य खण्ड (12) (क) में समाविष्ट "लोक सेवक" नहीं है। इस प्रकार से जैसा कि पता चला है कि धारा 21 के इतिहास और प्रगति को देखने से यह बात स्पष्ट है कि सन् 1964 तक विधान सभा सदस्य को "लोक सेवक" अभिव्यक्ति के भीतर बोधगम्य रूप से समाविष्ट नहीं किया जा सकता था और विधि में संशोधन के समय से कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके प्रतिकूल संथानम समिति की सिफारिश जिसने मंत्रियों और संसदीय सचिवों को सम्मिलित करने की सिफारिश की थी किन्तु विधानसभा सदस्यों को नहीं, ने पृथक् रूप से विधानसभा सदस्यों के लिए पृथकतः भ्रष्टाचार की आशंका से उन्हें बचाने के लिए एक आचार संहिता की सिफारिश की थी जो स्पष्ट रूप से और सही रूप से यह दर्शाती है कि सन् 1964 तक विधान सभा सदस्य भारतीय दंड संहिता की धारा 21 में "लोक सेवक" अभिव्यक्ति में समाविष्ट नहीं था और सन् 1964 के संशोधन अधिनियम संख्या 40 के

द्वारा संशोधन इस बारे में विधान सभा सदस्य की स्थिति के सम्बन्ध में तनिक मात्र भी परिवर्तन नहीं किया है। इसलिए किसी अन्य बात के अतिरिक्त धारा 21 के ऐतिहासिक विकास पर जिसे अर्थान्वयन की बाहरी सहायता के रूप में अंगीकृत किया गया है निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि विधान सभा सदस्य भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के खण्डों में से किसी में भी अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत "लोक सेवक" न तो था और न है। (पैरा 42)

"वेतन में" अभिव्यक्ति से यह स्पष्ट नहीं है कि दाता और आदाता के बीच स्वामी-सेवक का सम्बन्ध अस्तित्व में होना चाहिए। कोई व्यक्ति किसी दूसरे के नियोजन या सेवा में हुए बिना किसी अन्य व्यक्ति के वेतन में हो सकता है। हम इस दलील को स्वीकार करने के लिए प्रवृत्त नहीं हैं कि वेतन में इस सन्दर्भ में इस स्पष्ट कारण के लिए स्वामी सेवक सम्बन्ध को विवक्षित करे कि न्यायालय को उसके विन्यास में "के वेतन में" वाक्यांश का अर्थान्वयन करना होता है जहां कि यह "सरकार की सेवा में" अभिव्यक्ति से पूर्व आता है और उसके बाद "सरकार द्वारा किसी सार्वजनिक कार्य के लिए फीस या कमीशन द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त करता है" अभिव्यक्ति आती है। विन्यास और सन्दर्भ किसी अभिव्यक्ति के सही अर्थ को अभिनिश्चित करने के लिए काफी सुसंगत है। पुनरुक्ति के आरोप से बचने के लिए खण्ड (12) (क) में "सरकार के वेतन में" वाक्यांश में ऐसी स्थिति समाविष्ट है कि कोई भी व्यक्ति सरकार के वेतन में हुए बिना या वेतन प्राप्त करने वाले व्यक्ति और आदाता के रूप में सरकार के बीच स्वामी-सेवक का सम्बन्ध हुए बिना सरकार के वेतन में हो सकता है। (पैरा 50)

"सरकार के वेतन में" वाक्यांश का आवश्यक रूप से स्वामी-सेवक सम्बन्ध का आशय नहीं है। यह कहना पूर्णतः संभव है कि कोई व्यक्ति सरकार के वेतन में हो सकता है यदि उसे सरकार द्वारा उसे न्यस्त समनुदेशन के उन्मोचन के विचार में संदाय किया जाता है जिसमें उनके बीच स्वामी-सेवक सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। सामान्य भाषा में यह बात असाधारण नहीं है कि ऐसे व्यक्ति के बारे में किसी अन्य के वेतन में कहा जाए यदि उसे किसी अन्य की इच्छा के अनुसार या उसके कहने पर कार्य करने के लिए संदाय किया जाता है और उस दूसरे का स्वामी होना और उसका सेवक होना आवश्यक नहीं है अर्थात् काम करने के ढंग पर जो स्वामी-सेवक के सम्बन्ध को विवक्षित करता है किसी नियन्त्रण के बिना। "सरकार की सेवा में" के अतिरिक्त एक श्रेणी है जिसे खण्ड (12) (क) में समाविष्ट किया गया है। (पैरा 51)

1984(2) eILR(PAT) SC 1

विधानमंडल एक विस्तृत नीति अधिकथित करता है और उसे खर्चे की शक्ति प्राप्त है। कार्यपालिका उस नीति को निष्पादित करती है और समेकित नीति से खर्च करती है जो विधानमंडल मंजूर कर देता है। विधान सभा ने अधिनियम अधिनियमित किया जो अपने सदस्यों को वेतन और भत्ते संदाय करने के लिए सक्षम करता है। और सदस्य अनुदान पर मतदान करते हैं और अपने आपको संदाय करते हैं। इस पृष्ठ भूमि में चाहे इस संदाय को वितरण करने के लिए कोई अधिकारी हो या वह वेतन बिल बनाना हो ऐसे तथ्य नहीं हैं जो मामले के निर्णायक हैं। यह मात्र संदाय की पद्धति है किन्तु विधान सभा सदस्य मतदान के द्वारा सुसंगत कानून के अधीन उन्हें संदेय वेतन और भत्तों के लिए परिव्यय के प्रयोजनों के लिए सुरक्षित निधि को रखते हैं। इसलिए यद्यपि विधान सभा सदस्य वेतन और भत्ते प्राप्त करता है, वह राज्य सरकार के वेतन में नहीं है क्योंकि राज्य के विधानमंडल में "राज्य सरकार" अभिव्यक्ति अन्तर्विष्ट नहीं है। (पैरा 56)

यदि विधान सभा सदस्य कार्यपालिक सरकार के भाव में सरकार के वेतन में नहीं है या उसे कार्यपालिक सरकार द्वारा किसी सार्वजनिक कार्य के करने के लिए फीस द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त नहीं होता है तो निश्चित रूप से वह खण्ड (12)(क) की अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत "लोक सेवक" अभिव्यक्ति में समाविष्ट नहीं होगा। इस प्रकार से वह खण्ड (12)(क) की अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक नहीं है। यह निष्कर्ष फिर से पूर्व निष्कर्ष को बल देता है जिस पर हम खण्ड (12)(क) के ऐतिहासिक विकास की परीक्षा करने के पश्चात् पहुंचे थे। (पैरा 60)

विशेषाधिकार के भाग या सदन के अवमान के लिए कार्यवाही करने के लिए प्रस्ताव पर बहस में भाग लेना और उस पर मतदान करना सदस्यों द्वारा निर्वहन किए जाने वाला एक संवैधानिक कर्त्तव्य है और इसलिए यह कहा जा सकता है कि ऐसा न्याय निर्णयन सम्बन्धी कर्त्तव्य यदि इसे ऐसा नाम दिया जाए विधि द्वारा यथा सशक्त विधान सभी सदस्य द्वारा किया गया न्याय निर्णायक कर्त्तव्य है। इस दृष्टिकोण से विचार करते हुए इस दलील की परीक्षा करना आवश्यक नहीं है कि न्याय निर्णयन और परिणामी निर्णय न्याय निर्णायक न्याय निर्णायक से भिन्न अन्य व्यक्तियों के बीच मुकदमें के पूर्व नहीं होता जब तक कि वह अवमान के लिए या विशेषाधिकार के भंग के लिए प्रस्ताव पेश करता है। तदनुसार दलील कि अभियुक्त भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के खण्ड 3 में अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक होगा, नामंजूर किया जाना चाहिए। (पैरा 65)

यह कहना कि विधान सभा सदस्य अपने पद के कारण निर्णय करने का कार्य या कारावास अधिकारियों का कर्त्तव्य करता, भाषा का निरादर करने के अतिरिक्त हैसियत में उसको कम करना है। इसके अतिरिक्त खण्ड 3 किसी न्याय निर्णायक कर्त्तव्य के बारे में नहीं कहता। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें ऐसी स्थितियां सम्मिलित हैं जहां कि किसी दांडिक कार्य में न्याय निर्णायक कर्त्तव्य के प्रारम्भ का यह अधिकार अंतिम स्थिति सम्मिलित हो जो कारावास का दंडादेश अधिरोपित कर सके और उसके पद के कारण उसके द्वारा उन्मोचित किए जाने के लिए कर्तव्य के प्रयोग में कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को परिधि में रख सकता है। विभिन्न दृष्टिकोणों से उस दलील की सूक्ष्म परीक्षा करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि विधान सभा सदस्य भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के खण्ड (12)(क) के खण्ड (3) और (7) की अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक नहीं है। (पैरा 66 और 67)

अवलम्बित निर्णय

		पैरा
[1982]	(1992) 1 आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 582 : **सम्राट** बनाम **ब्लैक्सहाम** (R. *v.* Blexham);	34
[1981]	(1981) ऑल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 443 : **सम्राट** बनाम **उल्लुगबोजा** (R. *v.* Ulugboja);	34
[1979]	[1979] 2 एस० सी० आर० 1007 : **मौहम्मद इकबाल अहमद** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य** (Mohd. Iqbal Ahmed *v.* State of Andhra Pradesh);	19, 23
[1979]	[1979] 3 एस० सी० आर० 832 : **के० एस० धर्मादातन** बनाम **केन्द्रीय सरकार और अन्य** (K. S. Dharamadatan *v.* Central Government and Others);	19

[1976] [1976] 3 एस० सी० आर० 160 :
स्टेट बैंक आफ इंडिया बनाम **एन० सुन्दरामणि**
(State Bank of India *v.* N. Sundra Money) ; 49

[1975] (1975) 1 आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 810 :
ब्लैक कलाउसन इंटरनेशनल लिमिटेड बनाम **पेपियर वर्क वालडेफ एसछेफन वर्ग एस० सी०**
(Black-Clawson International Limited *v.* Papierworke Waldhef Ascheffenburg S. C.) ; 34

[1974] [1974] 2 एस० सी० आर० 827 :
कामता प्रसाद अग्रवाल और अन्य बनाम **एग्जीक्यूटिव इंजीनियर, बल्लबगढ़ और एक अन्य**
(Kamta Prasad Aggarwal and Others *v.* Executive Engineer, Ballabgarh and Another) ; 45

[1974] [1974] 1 एस० सी० आर० 589 :
मैसूर राज्य बनाम **आर० वी० बिदाप**
(State of Mysore *v* R. V. Bidap) ; 33, 34

[1973] [1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1 :
महामहिम केशवानंद भारती श्रीपदनागलवेरू बनाम **केरल राज्य और एक अन्य**
(H. H. Keshvanand Bharathi Sripadanagalavaru *v.* State of Kerala and Another) ; 64

[1971] [1971] 3 एस० सी० आर० 236 :
सी० आर० बंशी बनाम **महाराष्ट्र राज्य**
(C. R. Bansi *v.* State of Maharashtra) ; 19

[1971] [1971] 2 एस० सी० आर० 507 :
उप मुख्य नियन्त्रक आयात और निर्यात, नई दिल्ली बनाम के० टी० कौशलराम और अन्य
(Deputy Chief Controller of Imports and Exports, New Delhi *v.* K. T. Kosalram and Others); 49

[1970] ए० आई० आर० 1970 गुजरात 97 :
मानशंकर प्रभाशंकर द्विवेदी और एक अन्य बनाम गुजरात राज्य
(Manshanker Prabhashanker Dwivedi and Another *v.* The State of Gujarat); 42, 66

[1968] [1968] 3 एस० सी० आर० 561 :
एस० एन० बोस बनाम बिहार राज्य
(S. N. Bose *v.* State of Bihar); 19

[1967] [1967] 1 एस० सी० आर० 836 :
बाबू मनमोहन दास शाह और अन्य बनाम बिशन दास
(Babu Manmohan Das Shah and Others *v.* Bishan Das); 45

[1963] [1963] 1 एस० सी० आर० 121 :
आर० आर० चारी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य
(R. R. Chari *v.* State of Uttar Pradesh); 19

[1958] [1958] एस० सी० आर० 1040 :
एस० ए० वेंकटरमन बनाम राज्य
(S. A. Venkatarman *v.* The State); 19,25

[1928] (1928) 1के० बी० 561 :
ग्रीन बनाम प्रीमियर ग्लीनहर्नवे स्लेट कम्पनी लिमिटेड
(Green *v.* Premier Glynrhonwy State Company Limited); 45

1984(2) eILR(PAT) SC 1

[1917] (1917) 62 लां एडीशन 1130 :
यूनाइटेड स्टेट्स बनाम सेंट पाल, एम० एम० रेलवे कम्पनी
(United States *v.* St. Paul, M. M. Railway Company). 34

अननुमोदित निर्णय

[1972] (1972) 2 आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 1135 :
सेंट्रल एस्बेस्टोज कम्पनी लिमिटेड बनाम डोड
(Central Asbestos Company Limited *v.* Dodd); 32

[1934] (1934) आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 646 (पुन: मुद्रित) :
असम रेलवेज एण्ड ट्रेडिंग कम्पनी लिमिटेड बनाम इनलैंड रेवेन्यु कमिश्नर्स
(Assam Railways and Trading Co. Ltd. *v.* Inland Revenue Commissioners); 32, 33,34

[1895] (1895) आई० एल० आर० 22 कलकत्ता 788 :
एडमिनिस्ट्रेटर जनरल आफ बंगाल बनाम प्रेम लाल मलिक और अन्य
(Administrator General of Bengal *v.* Premlal mullick and Others). 32

प्रभेदित निर्णय

[1971] [1971] 3 एस० सी० आर० 365 :
कमिश्नर आफ इन्कम-टैक्स, आन्ध्र प्रदेश, हैदराबाद बनाम जयलक्ष्मी राइस एण्ड आयल मिल्स कंट्रेक्टर कम्पनी लिमिटेड
Commissioner of Income-Tex, Andhra Pradesh, Hyderabad *v.* Jayalakshmi Rice and Oil Mills Contractor Company Limited); 34

आर० एस० नायक ब० ए० आर० अंतुले 677

[1959] ए० आई० आर० 1959 असम 160 :
हरेन्द्र नाथ बरुआ बनाम देव कांत बरुआ और अन्य
(Harendra Nath Barua *v.* Dev Kanta Barua and Others); 66

[1957] आई० एल० आर० 1957 बाम्बे 218 :
होमी डी० मिस्त्री बनाम श्री नफीसुल्ल हसन और अन्य
(Homi D. Mistry *v.* Shree Nafisul Hassan and Others); 66

[1841-42] (1841-42) 4 मूरे प्रिवी कौंसिल केसिज़ 63 :
एडवर्ड कैले बनाम विलियम कारसन जॉन केंट और अन्य
(Edward Kielley *v.* William Carson, John Kent and Others). 66

निर्दिष्ट निर्णय

[1982] (1982) 2 एस० सी० सी० 463 :
महाराष्ट्र राज्य बनाम रामदास श्रीनिवास नायक और अन्य
(State of Maharashtra *v.* Ramdas Shriniwas nivas Nayak and Others); 5

[1980] [1980] 2 एस० सी० आर० 697 :
राज्य (एस० पी० ई० हैदराबाद) बनाम एयर कमांडर कैलाश चन्द
[The State (S. P. E., Hyderabad) *v.* Air Commodre Kailash Chand]); 25

[1979] [1979] 3 एस० सी० आर० 254 :
एम० करुणानिधि बनाम भारत संघ
(M. Karunanidhi *v.* Union of India); 49, 50, 51

[1977] (1977) इम्पीरियल कोर्ट रिपोर्ट्स 662 :
डेविस एण्ड संस लिमिटेड बनाम एटकिन्स
(Davis and Sons Limited *v.* Atkins); 24

[1975] [1975] 1 एस० सी० आर० 814 :
शमशेर सिंह और एक अन्य बनाम पंजाब राज्य
(Shamsher Singh and Another *v.* State of Punjab); 54

[1973] [1973] 1 एस० सी० आर० 313 :
गुजरात राज्य बनाम मानशंकर प्रभाशंकर द्विवेदी
(State of Gujarat *v.* Manshanker Prabhashanker Dwivedi); 42

[1973] (1973) 11 आन्ध्र वीकली रिपोर्ट्स 263 :
एयर कमांडर कैलाश चन्द बनाम राज्य (एस० पी० ई० हैदराबाद)
[Air Commodre Kailash Chand *v.* The State (S. P. E. Hyderabad)]; 25

[1971] [1971] 3 एस० सी० आर० 461 :
सरदारीलाल बनाम भारत संघ और अन्य
(Sardarilal *v.* Union of India and Others); 54

[1967] [1967] 2 एस० सी० आर० 672 :
आई० सी० गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य
(I. C. Golaknath *v.* State of Punjab); 64

[1960] (1960) 3 आल इंगलैंड लॉ रिपोर्ट्स 849 :
कटिकीरो आफ बूगेंडा बनाम अटर्नी जनरल
(Katikiro of Buganda *v.* Attorney General); 32

[1959] [1959] सप्लीमेंट 2 एस० सी० आर० 739 :
दि स्टेट आफ अजमेर बनाम शिवजी लाल
(The State of Ajmer *v.* Shivji Lal); 42

[1956] [1956] एस० सी० आर० 682 :
जी० ए० मोन्टेरियो बनाम दि स्टेट आफ अजमेर
(G. A. Montorio *v.* The State of Ajmer); 42

[1955] [1955] 2 एस० सी० आर० 225 :
राय साहब रामजवाया कपूर और अन्य बनाम पंजाब राज्य
(Rai Sahib Ram Jawaya Kapur and Others *v.* The State of Punjab); 54

[1923-24] (1923-24) 33 कामनवेल्थ लॉ रिपोर्ट्स 386 :

हिज मेजेस्टी दी किंग बनाम बोस्टन और अन्य (His Majesty the King *v.* Boston and Others) ;

59

दांडिक अपीली अधिकारिता : 1983 की दांडिक अपील सं० 356.

1983 के विशेष मामला सं० 24 में विशेष न्यायाधीश, मुम्बई के तारीख 25 जुलाई, 1983 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपील ।

और

1983 का अन्तरित मामला सं० 347.

और

1983 का अन्तरित मामला सं० 348.

अपीलार्थी की ओर से — सर्वश्री राम जेठमलानी और पी० आर० वकील, कुमारी रानी जेठमलानी, सर्वश्री मुकेश जेठमलानी, ओ० पी० मालवीय, शैलेन्द्र भारद्वाज और हरीश जगतलानी

प्रत्यर्थी की ओर से — डाक्टर एल० एम० सिंघवी, सर्वश्री दलवीर भंडारी, ए० एम० सिंघवी, एस० एस० पारकर, एच० भारद्वाज, यू० एन० भंडारी, एच० एम० सिंह, रनवीर सिंह और एस० जी० हसनैन

पिटीशनर की ओर से (1983 के अंतरित मामला सं० 348 में) — श्री अशोक देसाई और श्रीमती जे० वाड़

महाराष्ट्र राज्य की ओर से — श्री एम० एन० श्रॉफ

भारत संघ की ओर से — श्री के० परसरन, अटर्नी जनरल, कुमारी ए० सुभाषिनी, सर्वश्री गोपाल सुब्रमणियन, आर० एन० पोद्दार और सी० वी० सुब्बाराव

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति डी० ए० देसाई ने दिया ।

न्यायाधिपति देसाई—

प्रत्यर्थी अब्दुल रहमान अंतुले (जिसे इसमें इसके पश्चात् अभियुक्त कहा गया है) सन् 1980 से जनवरी, 1982 को अपने त्यागपत्र देने तक जो 20 जनवरी, 1982 से प्रभावी हुआ, महाराष्ट्र राज्य का मुख्य मंत्री था। इस प्रकार से 20 जनवरी, 1982 से मुख्य मंत्री का उसका पद समाप्त हो गया था किन्तु वह महाराष्ट्र विधान सभा का आज तक सदस्य बना हुआ है।

2. जैसा कि इस न्यायालय के समक्ष दलीलें दी गई हैं, वे मुख्य रूप से विधि के प्रश्नों और तथ्यों के प्रश्न हैं और इस चरण में चर्चा के क्रम में उनका परिसरीय सम्बन्ध है। रामदास श्रीनिवास नायक, संक्षेप में परिवादी, द्वारा फाइल किए गए परिवाद में यथाप्रकट अभियोजन पक्ष के मामले को उपवर्णित करना, विस्तार में उपवर्णित करना अनावश्यक है जिसमें कुछ उपयुक्त और संगत अभिकथन इसके अपवाद हैं। इस प्रक्रिया में मुकदमे का संक्षिप्त इतिहास भी खोजा जा सकता है।

3. परिवादी ने 1 सितम्बर, 1981 के अपने आवेदन द्वारा महाराष्ट्र राज्य के राज्यपाल को समावेदन किया जिसमें उनसे यह अनुरोध किया कि वे भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 (जिसे संक्षेप में 1947 का अधिनियम) की धारा 6 द्वारा यथा अपेक्षित अभियुक्त का उन विभिन्न अपराधों के लिए जिनके बारे में अभियुक्त द्वारा किए जाने का अभिकथन किया गया है, और जिन्हें साफ साफ आवेदन में उपवर्णित कर दिया गया है, के लिए अभियोजन करने की मंजूरी अनुदत्त कर दी जाए। परिवादी ने इसके पश्चात् 11 सितम्बर, 1981 को 28 एस्पलेनेड मुम्बई के मुख्य मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के न्यायालय में प्रथम परिवाद फाइल किया जो अभियुक्त और जाने-अनजाने सहयोगियों के विरुद्ध 1981 का दांडिक मामला सं० 76 प्रकीर्ण था जिसमें यह अभिकथन किया गया कि मुख्य मंत्री के रूप में अपनी हैसियत में अभियुक्त ने और उसके द्वारा भारत दंड संहिता की धारा 21 के अर्थान्तर्गत लोक सेवक की हैसियत से उसने भारतीय दंड संहिता की धारा 109 और 120ख के साथ पठित भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161, 165 और 1947 के अधिनियम की धारा 5, भारतीय दण्ड संहिता की धारा 384 और धारा 420 के अधीन अपराध किए हैं। परिवाद पास-पास टंकित किए 31 पृष्ठों में है जिसमें 37 साक्षियों की सूची है। विद्वान् मेट्रोपोलिटन

मजिस्ट्रेट ने परिवादी को इस बारे में उनका समाधान करने के लिए आमंत्रित किया कि भारतीय दंड संहिता की धारा 161, 165 और 1947 के अधिनियम की धारा 5 के अधीन अपराधों के लिए परिवाद किस प्रकार से 1947 के अधिनियम की धारा 6 द्वारा यथा अनुध्यात विधिमान्य मंजूरी के बिना चलने योग्य है और अंततः यह अभिनिर्धारित किया कि महाराष्ट्र के राज्यपाल से विधिमान्य मंजूरी न होने पर परिवादी द्वारा फाइल उपरोक्त तीन परिवादों के लिए परिवाद चलने योग्य नहीं है। तदनुसार मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने 6 अक्तूबर, 1981 के अपने आदेश द्वारा यह अभिनिर्धारित किया कि परिवाद केवल उन अपराधों के लिए चलने योग्य था जो अभियुक्त ने भारतीय दंड संहिता की धारा 109 और 120ख के साथ पठित धारा 384 और 420 के अधीन अभियुक्त द्वारा किए जाने का अभिकथन किया गया है और यह निदेश दिया कि मामले को दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 200 द्वारा यथा अपेक्षित परिवादी की परीक्षा के लिए मामले को नियत कर दिया जाए। परिवादी ने 1981 के विशेष दांडिक आवेदन सं० 1742 में इस आदेश की सत्यता को प्रश्नगत किया जो मुम्बई उच्च न्यायालय में फाइल किया गया था।

4. इसी दौरान एक अन्य प्रगति हुई जिसे संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है। श्री पी० आर० सामंत जिसने अभियुक्त के विरुद्ध इसी प्रकार का परिवाद फाइल किया था, ने अन्य कई लोगों के साथ मुम्बई उच्च न्यायालय में 1981 के रिट पिटीशन सं० 1165 महाराष्ट्र राज्य में सीमेंट के तदर्थ आबंटन की वितरण पद्धति को चुनौती देते हुए फाइल किया चूंकि यह विधि के नियम और सार्वजनिक जीवन में ईमानदारी के प्रतिकूल था। अभियुक्त इस पिटीशन में द्वितीय प्रत्यर्थी था। प्रथम और तृतीय प्रत्यर्थी क्रमशः महाराष्ट्र राज्य और भारत संघ थे। 23 सितम्बर, 1981 के एक विस्तृत सकारण आदेश के द्वारा उच्च न्यायालय के विद्वान एकल न्यायाधीश ने रूल-निसि अनुदत्त किया और इसे 23 नवम्बर, 1981 को प्रत्यावर्तनीय किया। रिट पिटीशन एक अन्य विद्वान् एकल न्यायाधीश के समक्ष सुनवाई के लिए आया जिसने 12 फरवरी, 1982 के अपने निर्णय के द्वारा इस नियम को आत्यंतिक बना दिया। संभवतः उच्च न्यायालय के इस विनिश्चय के परिणामस्वरूप अभियुक्त ने मुख्य मंत्री के पद से उसी दिन त्याग-पत्र दे दिया और जब त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया गया तो वह 20 जनवरी, 1982 से मुख्य मन्त्री के पद पर नहीं रहा।

5. विद्वान् मुख्य मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के आदेश के विरुद्ध परिवादी द्वारा फाइल 1981 का विशेष दांडिक आवेदन सं० 1742, 12 अप्रैल, 1982

1984(2) eILR(PAT) SC 1

को उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ द्वारा खारिज कर दिया गया। अभियुक्त ने ही नहीं अपितु महाराष्ट्र राज्य ने भी संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाज़त द्वारा उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय के विरुद्ध अपील फाइल की जिसमें विशेष दांडिक आवेदन को नामंजूर कर दिया गया था। इस न्यायालय ने 28 जुलाई, 1982 को आरम्भ में ही विशेष इजाज़त के लिए आवेदन को नामंजूर कर दिया (देखिए **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **रामदास श्रीनिवास नायक और अन्य**[1])। तुरन्त इस न्यायालय के निर्णय के आते ही महाराष्ट्र के राज्यपाल ने उसी दिन 1947 के अधिनियम की धारा 6 के अधीन मंजूरी देने वाले आदेश में उपवर्णित विनिर्दिष्ट आरोपों के सम्बन्ध में अभियुक्त का अभियोजन करने के लिए मंजूरी अनुदत्त कर दी। इस मन्जूरी को लेकर परिवादी ने मुम्बई के विशेष न्यायाधीश के न्यायालय में एक नया परिवाद फाइल कर दिया जिसे अभियुक्त के विरुद्ध अभियुक्त सं० 1 और अन्य जाने-अन्जाने लोगों के विरुद्ध 1982 के दांडिक मामला सं० 24 के रूप में रजिस्ट्रीकृत कर दिया। इस परिवाद में विस्तृत रूप से यह अभिकथन किया गया है कि अभियुक्त जो अगस्त, 1980 से सितम्बर, 1981 की कालावधि के बीच महाराष्ट्र राज्य का मुख्य मन्त्री था, ने विवर्धन की एक स्कीम सोची जिसमें समाज के लोगों से निधि अभिप्राप्त करना अन्तर्वलित था जो सारभूत रूप से उसके अपने नियन्त्रण में थी और जो इस प्रकार अभिप्राप्त निधियों के सवितरण के लिए थी। परिवाद में आगे यह कहा गया है कि बहुत से न्यासों को स्थापित किया गया और यह अभिकथन किया गया कि स्कीम के अनिवार्य आधार में विधि पारिश्रमिक से भिन्न अवैध परितोषण का अभियुक्त द्वारा किसी सरकारी कार्य के करने या विरत रहने के लिए या अपने शासकीय कर्तव्यों के प्रयोग में किसी व्यक्ति का पक्ष या विपक्ष करना या ऐसे व्यक्तियों की कोई सेवा करना या सेवा न करना या उसके लिए कोई प्रयत्न करना जो सामान्यतया राज्य सरकार के साथ व्यवहार करते हैं और लोक कर्मचारियों के साथ जो सरकार का भाग गठित करते हैं, के साथ व्यवहार करते हैं, हेतुक या इनाम के रूप में प्राप्ति अन्तर्वलित थी। विनिर्दिष्ट रूप से यह अभिकथन किया गया था कि स्कीम जो अभियुक्त द्वारा परिकल्पित थी मुख्य मन्त्री की अपनी शासकीय हैसियत का ऐसी निधियों पर नियन्त्रण अभिप्राप्त करने के लिए घोर दुरुपयोग था जिसका स्वयं अभियुक्त के हित में सहायक प्रयोजनों के लिए प्रयोग किया जा सकता था। परिवादी ने अभियुक्त द्वारा मुख्य मन्त्री के पद के दुरुपयोग को

---

[1] (1982) 2 एस० सी० सी० 463.

विभिन्न उदाहरणों का अभिकथन करके उपवर्णित किया जैसा कि विधि और बाध्यकर परिपत्रों के प्रतकूल तदर्थ सीमेंट का आबंटन, शराब के लाइसेंसों को सरकारी दान के आबंटन की तरह से अनुदत्त करना, परिसरों को उनके लिए मूल्य अभिप्राप्त करके किराए पर देने के लिए "आक्षेप नहीं" प्रमाण-पत्र जारी करना। विभिन्न अभिकथनों के माध्यम से परिचालक सूत्र यह है कि अभियुक्त ने मुख्य मन्त्री के अपने पद का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग करके मुख्य मन्त्री की हैसियत से किसी शासकीय कार्य को करने या करने से विरत रहने के लिए किसी हेतुक या श्रमफल के रूप में वैध पारिश्रमिक से भिन्न परितोषण अभिप्राप्त किया या अभिप्राप्त करने का प्रयत्न किया या अपनी शासकीय हैसियत के प्रयोग में लोगों को अनुग्रह या अननुग्रह दर्शाया या दर्शाने से विरत रहा। इस परिवाद के बारे में महाराष्ट्र के राज्यपाल द्वारा किया गया अभियुक्त का अभियोजन करने की मन्जूरी अनुदत्त करने का आदेश संलग्न किया गया। परिवादी के सत्यापन को अभिलिखित करने के पश्चात विद्वान् विशेष न्यायाधीश ने अपराधों का संज्ञान किया और 3 सितम्बर, 1983 को प्रत्यावर्तनीय 10,000 रुपये की रकम की प्रतिभूति जारी किए जाने के लिए जमानतीय वारन्ट का निदेश देकर एक आदेशिका जारी की।

6. आदेशिका के तामील किए जाने पर अभियुक्त हाजिर हुआ और व्यक्तिगत उपस्थिति से छूट चाही जिससे कि एक दिन के लिए अनुदत्त कर दिया गया और मामले को 18 अक्तूबर, 1982 के लिए परिवादी और अभियोजन के लिए उसके साक्षियों के साक्ष्य को अभिलिखित करने के लिए स्थगित कर दिया गया।

7. जब मामला 18 अक्तूबर, 1982 को पुकारा गया तो अभियुक्त की ओर से अन्य बातों के साथ-साथ यह दलील देते हुए एक आवेदन समावेदित किया गया कि विद्वान् विशेष न्यायाधीश के न्यायालय को दंड विधि संशोधन अधिनियम, 1952 (संक्षेप में 1952 का अधिनियम) की धारा 7 में अन्तर्विष्ट उपबन्ध के दृष्टिकोण से कोई अधिकारिता नहीं है और कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161 और 165 और 1947 के अधिनियम की धारा 5 के अधीन दंडनीय अपराधों का प्राइवेट परिवाद पर संज्ञान नहीं किया जा सकता। यह मामला उस समय विशेष न्यायाधीश के न्यायालय में लम्बित था जिसकी अध्यक्षता श्री एस० पी० भुट्टा कर रहे थे। विद्वान् विशेष न्यायाधीश ने 20 अक्तूबर 1982 के अपने आदेश द्वारा दोनों दलीलों को नामन्जूर कर दिया और 29 नवम्बर, 1982 के लिए अभियोजन के साक्ष्य को अभिलिखित करने

हेतु मामले को लिपिबद्ध कर दिया। विद्वान् विशेष न्यायाधीश ने इस बात को बहुत स्पष्ट कर दिया कि किन्हीं भी परिस्थितियों में अकेले अवसर पर मामले को स्थगित नहीं किया जायेगा और यदि कोई पुनरीक्षण या अपील आदेश के विरुद्ध फाइल किए जाने के लिए आशयित है तो अभियुक्त की ओर से विद्वान् काउन्सेल को चाहिए कि वह परिवादी के विद्वान् काउन्सेल को उसकी अग्रिम सूचना दे दे।

8. अभियुक्त ने 20 अक्तूबर, 1982 के विद्वान् विशेष न्यायाधीश के आदेश के विरुद्ध 1982 का दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं० 510 फाइल किया जिसने उसके आवेदन को नामंजूर कर दिया था। 16 जनवरी, 1983 को महाराष्ट्र सरकार ने 1952 के अधिनियम की धारा 7 की उपधारा (1) द्वारा प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में और 1 अप्रैल, 1982 के पहले के सरकारी आदेश के उपान्तरण एक अधिसूचना जारी की जिसमें यह निदेश दिया कि ग्रेटर बाम्बे में अधिसूचना की तारीख को और उसके पश्चात् 1947 के अधिनियम की धारा 6 की उपधारा (1) में विनिर्दिष्ट अपराध जो ग्रेटर बाम्बे में पुलिस के भ्रष्टाचार विरोधी विभाग द्वारा अन्वेषित किए जायेंगे 1977 के विशेष मामले सं० 14, 15 और 16 और 1979 के विशेष मामला सं० 31 से 1979 के विशेष मामला सं० 37 तक (दोनों सम्मिलित हैं) को छोड़कर श्री आर० बी० सुले द्वारा विचारण किया जाता रहेगा। इस अधिसूचना का स्पष्ट परिणाम यह था कि श्री पी० एस० भुट्टा विशेष न्यायाधीश के न्यायालय में लम्बित 1982 का विशेष मामला स० 24 ग्रेटर बाम्बे के लिए अपर विशेष न्यायाधीश श्री आर० बी० सुले के न्यायालय में अन्तरित हो जायेगा।

9. विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा निर्देश पर मुम्बई उच्च न्यायालय की एक खण्ड न्यायपीठ ने 7 मार्च, 1983 को अभियुक्त द्वारा 20 अक्तूबर, 1982 के विद्वान् विशेष न्यायाधीश श्री पी० एस० भुट्टा के आदेश के विरुद्ध अभियुक्त द्वारा फाइल 1982 के दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं० 510 की सुनवाई की और उसे खारिज कर दिया। खण्ड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्राइवेट परिवाद चलने योग्य था और चूंकि अपेक्षित अधिसूचना पहले ही जारी की जा चुकी है श्री आर० बी० सुले को 1982 का विशेष मामला सं० 24 का विचारण करने की अधिकारिता होगी। विद्वान् विचारण न्यायाधीश श्री आर० बी० सुले ने मामले के अभिलेख की प्राप्ति पर 27 अप्रैल, 1982 को एक नोटिस जारी किया जिसमें सभी पक्षकारों को 21 अप्रैल, 1983 को अपने समक्ष हाजिर होने के लिए कहा। ऐसा प्रतीत होता है कि

8 जुलाई, 1983 को अभियुक्त की ओर से दो आवेदन समावेदित किए गए जिनमें विद्वान् विचारण न्यायाधीश को यह कहा (1) अभियुक्त को अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर उन्मोचित करने के लिए कि आरोप आधार-विहीन था और कि चाहे अभियुक्त मुख्यमंत्री नहीं रहा था, अपराधों का संज्ञान करने की तारीख को वह महाराष्ट्र विधान सभा का पीठासीन सदस्य था और इसलिए लोक सेवक था और उस हैसियत में उसका अभियोजन करने के लिए मन्जूरी महाराष्ट्र विधान मन्डल द्वारा देनी होगी और राज्यपाल द्वारा अनुदत्त मन्जूरी इस बारे में विधिमान्य नहीं होगी। द्वितीय पिटीशन में विद्वान् न्यायाधीश से यह अनुरोध किया गया कि वे मामले को उस समय स्थगित कर दें जब तक कि उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय के विरुद्ध अभियुक्त द्वारा फाइल विशेष इजाजत के लिए पिटीशन का निपटान नहीं हो जाता जिसमें कि यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्राइवेट परिवाद चलने योग्य है। इन दोनों आवेदनों की श्री आर० बी० सुले के समक्ष सुनवाई की गई जिसने 25 जुलाई, 1983 के अपने आदेश द्वारा अभियुक्त की इस दलील को पुष्ट कर दिया कि एम० एल० ए० भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21(12)(क) में अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक था और कि जब तक कि एम० एल० ए० की हैसियत में उसके पद से उसे हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी द्वारा उसका अभियोजन करने के लिए मन्जूरी अभिप्राप्त नहीं कर ली जाती जो विद्वान् न्यायाधीश की राय में महाराष्ट्र विधान सभा थी अभियुक्त उन्मोचित किए जाने का हकदार है। इस प्रकार कह कर विद्वान् न्यायाधीश ने अभियुक्त को उन्मोचित कर दिया। परिवादी ने 1983 की अपील सं० 1850 के लिए विशेष इजाजत हेतु पिटीशन और विद्वान् विशेष न्यायाधीश के विनिश्चय के विरुद्ध 1983 का रिट पिटीशन (दांडिक) सं० 145 फाइल कर दिया। ये दोनों मामले 3 अगस्त, 1983 को इस न्यायालय के समक्ष आए जबकि मामलों को 10 अगस्त, 1983 तक स्थगित कर दिया गया था जिससे कि पिटीशनर मूल परिवादी उच्च न्यायालय में विद्वान् विशेष न्यायाधीश के आदेश के विरुद्ध दांडिक पुनरीक्षण आवेदन फाइल करने के लिए सक्षम हो सके। तदनुसार परिवादी ने उच्च न्यायालय में विद्वान् विशेष न्यायाधीश श्री आर० बी० सुले के आदेश के विरुद्ध 1983 का दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं० 354 फाइल किया। इस न्यायालय ने अन्ततः अपील के लिए विशेष इजाजत तथा रिट पिटीशन में रूल निसि अनुदत्त कर दिया। इस न्यायालय द्वारा किए गए आदेश द्वारा पिटीशनर द्वारा फाइल दांडिक पुनरीक्षण आवेदन इस न्यायालय को अन्तरित हो गया।

10. इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि इस न्यायालय ने अभियुक्त को बम्बई उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय के विरुद्ध यह अभिनिर्धारित करते हुए विशेष इजाजत अनुध्यात की है कि प्राइवेट परिवाद चलने योग्य है। 1983 की दांडिक अपील संख्या 247 जो उक्त विशेष इजाजत पिटीशन से उद्भूत हुई है इस मामले के साथ सुनी जा रही है किन्तु उस पर अलग से चर्चा की जाएगी ।

11. अभियुक्त को उन्मोचित करते हुए विद्वान् विशेष न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि 1947 के अधिनियम की धारा 6 को लागू होने के बारे में विनिश्चय करने के लिए तातविक तारीख वह तारीख है जिसको कि न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा गया था। आगे कार्यवाही करते हुए यह अभिनिर्धारित किया गया था कि चाहे अभियुक्त उस तारीख को जिसको कि विद्वान् विशेष न्यायाधीश श्री भूटानी ने संज्ञान किया था मुख्य मंत्री का पद छोड़ दिया था फिर भी उस तारीख को वह पीठासीन विधान सभा सदस्य था और इसलिए धारा 21 (12) (क) में अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक था। यहां तक कि विधान सभा सदस्य सरकार का वेतन पाने वाला व्यक्ति है या किसी भी प्रकार से उसे सरकार द्वारा सार्वजनिक कर्तव्य करने के लिए शुल्क द्वारा पारिश्रमिक दिया जाता है और इसलिए वह एक लोक सेवक है। इस सहज परिणामस्वरूप विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि अपराधी का संज्ञान करने की तारीख को अभियुक्त लोक सेवक था उसे 1947 के अधिनियम की धारा 6 द्वारा यथा अनुध्यात विधिमान्य मंजूरी के बिना अभियोजित नहीं किया जा सकता था। विद्वान् न्यायाधीश ने आगे यह अभिनिर्धारित किया कि विधान सभा सदस्य ऐसा पद धारण करता है और उसे उस पद से विधान सभा द्वारा हटाया जा सकता है क्योंकि पश्चात्वर्ती (विधान सभा) को किसी सदस्य को निष्कासित करने की शक्ति प्राप्त है जो पद से हटाया जाना होता है। विद्वान् न्यायाधीश ने आगे यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि महाराष्ट्र विधान सभा द्वारा अभियुक्त का अभियोजन करने के लिए कोई मंजूरी नहीं थी और चूंकि राज्यपाल को विधान सभा सदस्य की हैसियत से उसमें अभियुक्त के अभियोजन की मंजूरी देने की शक्ति प्राप्त नहीं थी अभियुक्त भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161, 165, 120 ख और 109 और 1947 के अधिनियम की धारा 5 के अधीन अपराधों के लिए अभियोजन हेतु विधिमान्य मंजूरी की कमी के कारण उन्मुक्ति का हकदार था और अन्य अपराधों के सम्बन्ध में अभियुक्त इस आधार पर

उन्मोचित होने का हकदार है कि विशेष न्यायाधीश के न्यायालय को उन अपराधों के लिए अभियुक्त का विचारण करने हेतु कोई अधिकारिता प्राप्त नहीं है। उन अन्य अपराधों के सम्बन्ध में विद्वान् न्यायाधीश ने यह निदेश दिया कि परिवाद परिवादी को समुचित न्यायालय के समक्ष पेश करने के लिए वापस कर दिया जाए। इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि 1983 के विशेष मामले संख्या 31 में एक सामान्य आदेश के द्वारा जो पी० बी० सामंत के परिवाद पर संस्थित किया गया था अभियुक्त उन्मोचित कर दिया गया।

12. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 "लोक सेवक" की परिभाषा करती है। सुसंगत खण्डों को निम्न प्रकार उद्धृत किया जा सकता है—

> "लोक सेवक" शब्द उस व्यक्ति के द्योतक है जो एतस्मिन्-पश्चात् निम्नगत वर्णनों में से किसी में आता है, अर्थात्—
>
> तीसरा—हर न्यायाधीश जिसके अन्तर्गत ऐसा कोई भी व्यक्ति आता है जो किन्हीं न्यायनिर्णायक कृत्यों को चाहे स्वयं या व्यक्तियों के किसी निकाय के सदस्य के रूप में निर्वहन करने के लिए विधि द्वारा सशक्त किया गया हो;
>
> सातवां—हर एक व्यक्ति जो किसी ऐसे पद को धारण करता हो, जिसके आधार से वह किसी व्यक्ति को परिरोध में करने या रखने के लिए सशक्त हो;

धारा 17 "सरकार" अभिव्यक्ति की परिभाषा करती है जो केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार को उपवर्णित करती है। धारा 14 "सरकार के सेवक" अभिव्यक्ति की परिभाषा करती है जो किसी अधिकारी या कर्मचारी को सरकार के प्राधिकार द्वारा या के अधीन भारत में नियुक्त नियोजित या कार्यरत के रूप में उपवर्णित किया गया है। धारा 19 निम्न प्रकार "न्यायाधीश" शब्द की परिभाषा करती है—

> "न्यायाधीश" शब्द न केवल हर ऐसे व्यक्ति का द्योतक है जो पद रूप से न्यायाधीश अभिहित हो, किन्तु उस हर व्यक्ति का भी द्योतक है,
>
> जो किसी विधि कार्यवाही में चाहे वह सिविल हो या दाण्डिक, अन्तिम निर्णय या ऐसा निर्णय, जो उसके विरुद्ध अपील न होने पर

अन्तिम हो जाए या ऐसा निर्णय, जो किसी अन्य प्राधिकारी द्वारा पुष्ट किए जाने पर अन्तिस हो जाए, देने के लिए विधि द्वारा संशक्त किया गया हो, अथवा जो उस व्यक्ति निकाय में से एक हो, जो व्यक्ति निकाय ऐसा निर्णय देने के लिए विधि द्वारा सशक्त किया गया हो ।

धारा 7 में इस बात का उपबन्ध है कि "हर पद जिसका स्पष्टीकरण इस संहिता के किसी भाग में किया गया है", इस संहिता के हर भाग में उस स्पष्टीकरण के अनुसरण में ही प्रयोग किया गया है।

13. 1947 के अधिनियम की धारा 5 दाण्डिक कदाचार के अपराध की परिभाषा करती है और कोई लोक सेवक जो दाण्डिक कदाचार का अपराध कारित करता है वह ऐसी कालावधि के कारावास से दण्डनीय होने के दायित्वाधीन है जो एक वर्ष से कम नहीं होगी किन्तु जो 7 वर्षों तक विस्तारित हो सकती है और जुर्माने के दायित्वाधीन भी होगा। धारा 6 भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161, 164, 165 और 1947 के अधिनियम की धारा 5 के अधीन दण्डनीय अपराधों के लिए विधिमान्य अभियोजन के लिए पूर्व शर्त के रूप में मंजूरी का उपबन्ध करती है। यह निम्न प्रकार पठित है —

> 6. (1) कोई न्यायालय भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161 या धारा 164 या धारा 165 के अधीन या इस अधिनियम की धारा 5 की उपधारा (2) या उपधारा (3क) के अधीन दण्डनीय किसी ऐसे अपराध का संज्ञान, जिसकी बाबत यह अभिकथित है कि वह लोक सेवक द्वारा किया गया है, निम्नलिखित की पूर्व मंजूरी के बिना नहीं करेगा—
>
> (क) ऐसे व्यक्ति की दशा में, जो संघ के मामलों के सम्बन्ध में नियोजित है और उसे अपने पद से केन्द्रीय सरकार द्वारा या उसकी मंजूरी से हटाए जाने के सिवाय नहीं हटाया जा सकता है, केन्द्रीय सरकार ;
>
> (ख) ऐसे व्यक्ति की दशा में, जो राज्य के मामलों के सम्बन्ध में नियोजित हैं और जो अपने पद से राज्य सरकार द्वारा या उसकी मंजूरी से हटाए जाने के सिवाय नहीं हटाया जा सकता है, राज्य सरकार;
>
> (ग) किसी अन्य व्यक्ति की दशा में उसे उसके पद से हटाने के लिए, सक्षम प्राधिकारी ।

(2) जहां किसी भी कारणवश इस बाबत शंका उत्पन्न हो जाए कि उपधारा (1) के अधीन अपेक्षित पूर्व मंजूरी केन्द्रीय या राज्य सरकार या किसी अन्य प्राधिकारी में से किस द्वारा दी जानी चाहिए वहां ऐसी मंजूरी उस सरकार या प्राधिकारी द्वारा दी जाए जो लोक सेवक को उसके पद से उस समय हटाने के लिए सक्षम था जिस समय अपराध का किया जाना अभिकथित है।

14. रिश्वत और भ्रष्टाचार के दोष को समाप्त करने के दृष्टिकोण से भारत सरकार ने डा० बख्शी टेकचन्द की अध्यक्षता के अधीन रिश्वत और भ्रष्टाचार के सम्बन्ध में विधियों के सुधार के लिए सिफारिशें करने के लिए एक समिति स्थापित की। समिति की सिफारिशों के परिणामस्वरूप दण्ड विधि संशोधन अधिनियम, 1952 अधिनियमित किया गया। 1952 के अधिनियम के द्वारा राज्य सरकार को ऐसे क्षेत्र या ऐसे क्षेत्रों के लिए जैसा कि अधिसूचना में विनिर्दिष्ट किया जाए निम्नलिखित अपराधों का विचारण करने के लिए अर्थात् भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161, 162, 163, 164, 165 और 165क और 1947 के अधिनियम की धारा 5 के अधीन दण्डनीय अपराधों और इसमें ऊपर लिखित अपराधों में से किसी को करने के प्रयत्न करने या किसी के दुष्प्रेरण के किसी षडयंत्र के लिए जैसा भी आवश्यक हो विशेष न्यायाधीश नियुक्त करने के लिए राज्य सरकार को शक्ति प्रदत्त की गयी। धारा 7 में धारा 6 के अधीन नियुक्त विशेष न्यायाधीशों को अनन्य अधिकारिता प्रदत्त की गयी। धारा 7 की उपधारा (2) में विशेष न्यायाधीश की विनिर्दिष्ट क्षेत्रीय अधिकारिताओं का उपबन्ध है। उपधारा (3) विशेष न्यायाधीशों को धारा 6 में विनिर्दिष्ट अपराध से भिन्न किसी अन्य अपराध का विचारण करने की भी शक्ति प्रदत्त करती है जिसके साथ अभियुक्त दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 के अधीन उसी विचारण से आरोपित किया जा सकेगा। धारा 8 में अपराधों के विचारण के अपनाए जाने वाली प्रक्रिया विहित है। विशेष न्यायाधीश का न्यायालय सैशन न्यायालय समझा गया था जो धारा 9 द्वारा यथा उपबन्धित दण्ड प्रक्रिया संहिता के अध्याय 31 और 32 के प्रयोजनों के लिए उच्च न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर जूरी के बिना मामलों का विचारण कर सकेगा।

15. अपीलार्थी जो मूल परिवादी था ने यह दलील दी है कि विद्वान् विशेष न्यायाधीश विधान सभा सदस्य को धारा 21 (12) (क) के अधीन अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक अभिनिर्धारित करने में गलती पर था।

दूसरी दलील यह थी कि यदि प्रथम प्रश्न का उत्तर सकारात्मक में दिया जाता है तो इस बात की परीक्षा करना आवश्यक हो जाएगा कि क्या धारा 6 में या अनुध्यात मंजूरी आवश्यक है ? यदि द्वितीय प्रश्न का उत्तर सकारात्मक में है तो मंजूरी प्राधिकारी को पहचानना आवश्यक हो जाएगा। दलील का विस्तृत विषय यह था कि परिवादी ने अपने परिवाद में यह अभिकथन किया है कि अभियुक्त ने मुख्यमंत्री के अपने पद का न कि विधान सभा सदस्य के रूप में अपने पद का, यदि कोई हो दुरुपयोग किया है और इसलिए चाहे अपराधी के संज्ञान की तारीख को अभियुक्त विधान सभा सदस्य था इस पर भी उसका अभियोजन करने के लिए 1947 के अधिनियम की धारा 6 द्वारा यथा प्रकल्पित मंजूरी आवश्यक है। यह दलील दी गयी थी कि परिवाद में अभियुक्त के विरुद्ध चूंकि यह अभिकथन किया गया है कि उसने मुख्यमंत्री के पद का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है और चूंकि उस समय तक जबकि परिवाद फाइल किया गया था और संज्ञान किया गया था वह मुख्यमंत्री के पद पर नहीं रहा था। धारा 6 के अधीन उसके द्वारा किए गए उन अधिकथित अपराधों के लिए उसको अभियोजन करने हेतु किसी मंजूरी की आवश्यकता नहीं थी जबकि अभियुक्त स्वीकृत रूप से मुख्य मंत्री की अपनी हैसियत में लोक सेवक था।

16. अभियुक्त की ओर से यह दलील दी गयी थी कि न केवल अभियुक्त धारा 21 (12) (क) में अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत आने वाला लोक सेवक होगा किन्तु वह धारा 21 के खण्ड (3) और (7) के अनुद्यान के भीतर भी लोक सेवक होगा। दलील का अगला भाग यह था कि यदि कोई अभियुक्त एकाधिक पद धारण करता है तो उनमें से प्रत्येक जो उसे लोक सेवक की हैसियत प्रदत्त करता है और चाहे यह अभिकथन किया गया हो कि उसने लोक सेवक के एक पद का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है। इस तथ्य के होते हुए भी कि अन्य पद के दुष्प्रयोग या दुरुपयोग के बारे में जो उसने लोक सेवक की हैसियत से धारण किया था अभिकथन नहीं किया गया है। प्रत्येक पद से हटाने के लिए सक्षम प्रत्येक प्राधिकारी की मंजूरी अभियुक्त के विरुद्ध किसी विधिमान्य अभियोजन के शुरू करने से पूर्व धारा 6 के अधीन अनिवार्य होगी।

17. इन विरोधी दलीलों पर कुछ प्रमुख और कुछ साधारण प्रश्न विचार के लिए उद्भूत हुए जिनमें से कुछ का उत्तर आसान है और कुछ का इतना आसान नहीं है। उनका वैज्ञानिक और तर्क सम्बन्धी व्यवहार के लिए उन्हें इस प्रकार विरचित किया जा सकेगा—

(क) वह कौन-सी सुसंगत तारीख है जिसके निर्देश में 1947 के अधिनियम की धारा 6 में प्रगणित अपराधों के लिए लोक सेवक के अभियोज हेतु विधिमान्य मंजूरी एक पूर्वापेक्षा है ?

(ख) यदि अभियुक्त एकाधिक पद धारण करता है जिन में से प्रत्येक का धारण करना उसे लोक सेवक बनाता है तो उसके द्वारा धारित पदों में से उसे हटाने के लिए हकदार सक्षम प्राधिकारियों में से प्रत्येक की मंजूरी आवश्यक है और यदि सक्षम प्राधिकारियों में से यदि कोई मंजूरी अनुदत्त करने में असफल रहता है या मना कर देता है तो क्या न्यायालय उस अपराध का संज्ञान करने से परिरुद्ध या प्रतिशुरु है जिसे लोक सेवक आरोपित किया गया है ?

(ग) क्या 1947 के अधिनियम की धारा 6 में यह बात स्पष्ट है कि केवल उस सक्षम प्राधिकारी की मंजूरी ही आवश्यक है जो लोक सेवक को उस पद से हटाने की हकदार है जिसके बारे में भ्रष्टा हेतुकों के लिए दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किए जाने का अभिकथन है ?

(घ) क्या विधान सभा सदस्य भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 (12) (क) में अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक है ?

(ङ) क्या विधान सभा सदस्य भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 (3) और धारा 21 (7) में अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक है ?

(च) क्या 1947 की अधिनियम की धारा 6 द्वारा यथा अनुध्यात मंजूरी विधान सभा सदस्य के अभियोजन के लिए आवश्यक है ?

(छ) यदि (च) का उत्तर सकारात्मक में है तो विधान सभा के सदस्य के पद से विधान सभा सदस्य को हटाने के लिए कौन-सा सक्षम मंजूरी प्राधिकारी है ?

18. (क) के सम्बन्ध में 1947 अधिनियम जैसा कि इसका लम्बा शीर्षक दर्शाता है रिश्वत और भ्रष्टाचार को रोकने के लिए प्रभावी उपबन्ध करने हेतु अधिनियमित किया गया था। इसलिए अविवादास्पद रूप से अधिनियम के उपबन्धों का न्यायालय के हाथों में वही अर्थान्वयन किया जाना जो अधिनियम के अधीन उद्देश्य और प्रयोग बढ़ा सके और किसी भी

प्रकार से उसे पराजित नहीं कर सके। यह कानून के शब्द स्पष्ट और साफ हैं तो न्यायालय का यह स्पष्ट कर्तव्य है कि वह उपबन्ध में प्रयुक्त शब्दों के सही अर्थ को प्रभावित करे। अर्थान्वयन का प्रश्न संदिग्धता की दशा में ही उद्भूत होता है या कानून में प्रयुक्त शब्दों का स्पष्ट अर्थ आत्मघाती होगा। न्यायालय इस बात को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण कानून के उपबन्ध का अर्थान्वयन करेगा। अस्पष्टता को दूर करने हेतु विधान मंडल के आशय को अभिनिश्चित करने का हकदार है जो कोई रिष्टि हो जबकि कानून अधिनियमित किया गया था और इस बात को दूर करने के लिए जिसे विधान मंडल ने कानून को अधिनियमित किया था। अर्थान्वयन का नियम इस सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया गया है कि इसे पूर्वोदाहरणों द्वारा समर्थित करने की आवश्यकता नहीं है। अर्थान्वयन के हर नियम को स्वीकार करते हुए जबकि अर्थान्वयन का कोई प्रश्न संदिग्धता पर उद्भूत होता है या जहां किसी उपबन्ध के दो दृष्टिकोण सम्भव हों तो न्यायालय का यह कर्तव्य होगा कि वह उस अर्थान्वयन को स्वीकार करे तो अधिनियम के अधीन उद्देश्य को आगे बढ़ाने और रिश्वत और भ्रष्टाचार को रोकने के लिए प्रभावी उपबन्ध करने के लिए और किसी भी प्रकार से उसे पराजित करने के लिए नहीं।

19. धारा 6 न्यायालय को इसमें प्रगणित अपराधों का संज्ञान करने से वर्जित करती है जिनके बारे में यह अभिकथन किया गया है कि वे अपेक्षित मंजूरी अनुदत्त करने के लिए सशक्त सक्षम प्राधिकारी की पूर्व मंजूरी के सिवाय लोक सेवक द्वारा किए गए हैं। धारा 6 न्यायालय को इसमें प्रगणित अपराधों का जिनके बारे में लोक सेवक द्वारा किए जाने का अभिकथन किया गया है, का अपेक्षित अनुदत्त करने के लिए सशक्त सक्षम प्राधिकारी की पूर्व मंजूरी के सिवाय संज्ञान करने से वर्जित करती है। 1952 के अधिनियम की धारा 8, 1947 के अधिनियम की धारा 6 में उपवर्णित अपराधों का विचारण करने के लिए सशक्त विशेष न्यायाधीश की शक्तियों को और प्रक्रिया को विहित करती है। धारा 6 के अर्थान्वयन पर ऐसी सजीतीय अपील में घोर चर्चा का विषय रहा है। इस अपील में हम इस धारणा पर आगे बढेंगे कि विशेष न्यायाधीश ऐसे अपराध का संज्ञान कर सकता है जिसका वह प्राइवेट परिवाद पर विचार करने के लिए सक्षम है। धारा 6 न्यायालय के लिए उपधारा (1) के खण्ड (क), (ख) और (ग) में वर्णित प्राधिकारी की मंजूरी के सिवाय इसमें प्रगणित अपराधों का संज्ञान करने से वर्जन सर्जित करती है। ऐसे उपबन्ध का अन्तर्निहित उद्देश्य लोक सेवक को निरर्थक और प्रमाणरहित अभिकथनों की परेशानी से बचाना है। धारा 6 और इसी प्रकार की धाराओं की अन्तर्निहित

नीति यह है कि लोक सेवक को अनावश्यक परेशानी नहीं होनी चाहिए (देखिए **सी० आर० बंसी** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1]) । इस प्रकार से विधिमान्य मंजूरी का अस्तित्व उन प्रगणित अपराधों का संज्ञान करने के लिए पूर्व अपेक्षित है जिनके बारे में लोक सेवक द्वारा किए जाने का अभिकथन किया गया है। वर्जन न्यायालय द्वारा अपराध का संज्ञान करने के लिए है। इसलिए जब न्यायालय को ऐसे अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा जाता है तो उसे इस बात की जांच करनी चाहिए कि क्या लोक सेवक को उसके द्वारा लोक सेवक की हैसियत में किए जाने के लिए अभिकथित अपराध के लिए अभियोजित करने हेतु विधिमान्य मंजूरी है। निस्सन्देह अभियुक्त को उस समय लोक सेवक होना चाहिए जबकि उसके बारे में अपराध किए जाने का अभिकथन किया गया है जिसका कि वह अभियुक्त है, क्योंकि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161, 164, 165 और 1947 के अधिनियम की धारा 5(2) स्पष्ट रूप से यह दर्शाती हैं कि उसमें परिभाषित अपराध लोक सेवक द्वारा किए जा सकते हैं। यदि लोक सेवक का अभियोजन करने का अनुध्यान है जिसने ऐसे अपराध किए हैं तो जब न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा जाता है तो मंजूरी उपलब्ध होनी चाहिए अन्यथा न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने की अधिकारिता नहीं है। विधिमान्य मंजूरी के बिना विचारण को जहां कि यह धारा 6 के अधीन आवश्यक है न्यायालय द्वारा अधिकारिता-विहीन विचारण अभिनिर्धारित किया गया है (देखिए **आर० आर० चारी** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[2] और **आर० एस० एन० बोस** बनाम **बिहार राज्य**[3]) । **मोहम्मद इकबाल अहमद** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**[4] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि मंजूरी के बिना विचारण कार्यवाहियों को आरम्भ से शून्य कर देता है। किन्तु विधिमान्य मंजूरी की समाप्ति वह समय है जब कि न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा जाता है। इसलिए यदि जब कि अपराध के किए जाने का अभिकथन किया गया है अभियुक्त लोक सेवक है, किन्तु उस समय तक न्यायालय को लोक सेवक के रूप में उसके द्वारा किए गए अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा गया है वह लोक सेवक नहीं रहा है तो उसके विरुद्ध अपराध का संज्ञान करने के लिए किसी मंजूरी की आवश्यकता नहीं होगी। यह दृष्टिकोण धारा 6 में अन्तर्निहित नीति के अनुसरण में है जिसमें

---

[1] [1971] 3 एस० सी० आर० 236.
[2] [1963] 1 एस० सी० आर० 121.
[3] [1968] 3 एस० सी० आर० 561.
[4] [1979] 2 एस० सी० आर० 1007.

लोक सेवक को निरर्थक और कल्पित अभियोजन के लिए परेशान नहीं किया जा सकता। यदि वह इस दौरान लोक सेवक नहीं रहा है तो यह प्रमुख विचार अस्तित्व में नहीं रहता। आवश्यक सहज परिणामस्वरूप यदि अभियुक्त उस समय लोक सेवक नहीं रहा है जबकि न्यायालय को लोक सेवक के रूप में उसके द्वारा किए गए अभिकथित अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा गया है तो धारा 6 लागू नहीं होती। यह पहलू अब अनिर्णीत विषय नहीं रहा है। एस० ए० **वेंकटरमन** बनाम **राज्य**[1] के मामले में इस न्यायालय ने निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया था—

> "हमारी राय में अधिनियम की धारा 6 में प्रयुक्त शब्दों के साधारण अर्थ को प्रभावी करने में यह निष्कर्ष अवश्यम्भावी है कि धारा 6 के उपबन्धों को लागू करने से पूर्व जिस समय न्यायालय को संज्ञान करने के लिए कहा जाता है न केवल लोक सेवक द्वारा अपराध किया जाना चाहिए किन्तु अभियुक्त व्यक्ति को अभी भी लोक सेवक होना चाहिए जो सक्षम प्राधिकारी द्वारा उसके पद से हटाया जा सके। प्रस्तुत अपीलों में स्वीकृत रूप से अपीलार्थी लोक सेवक नहीं रहा था जिसके बारे में लोक सेवकों की हैसियत से उनके द्वारा अपराध किए जाने का अभिकथन किया गया था। तदनुसार अधिनियम की धारा 6 के उपबन्ध लागू नहीं होते और उनके विरुद्ध अभियोजन सक्षम प्राधिकारी की पूर्व मंजूरी की कमी के कारण दूषित नहीं थे।"

और इस दृष्टिकोण को निरन्तर **सी० आर० बंसी के मामले**[2] में और **के० एस० धर्मादातन बनाम केन्द्रीय सरकार और अन्य**[3] के मामलों में लागू किया गया है। इसलिए यह बात सुनिश्चित दिखाई देती है कि सुसंगत तारीख जिसके निर्देश में धारा 6 द्वारा यथाअपेक्षित लोक सेवक द्वारा किए गए अपराध का संज्ञान लेने के लिए विधिमान्य मंजूरी अनिवार्य है। वह तारीख है जिसको कि न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा गया है जिसको कि वह अभियुक्त है।

20. अभियुक्त ने मुख्यमंत्री के अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और वह 20 जनवरी, 1982 से मुख्यमंत्री का पद धारण नहीं करता। वह परिवाद जिससे कि प्रस्तुत अपील उद्भूत होती है और जिसे 1982 का दांडिक मामला

---

1 [1958] एस० सी० आर० 1040.
2 [1971] 3 एस० सी० आर० 236.
3 [1979] 3 एस० सी० आर० 832.

सं० 24 के रूप में रजिस्ट्रीकृत किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है कि 9 अगस्त, 1982 को फाइल किया गया था और उसी दिन विद्वान् मजिस्ट्रेट द्वारा संज्ञान किया गया था असंदिग्ध रूप से ऐसा पता चलता है कि उस तारीख से काफी पहले जिसको कि विद्वान् विशेष न्यायाधीश द्वारा संज्ञान किया गया था अभियुक्त मुख्यमंत्री के पद पर नहीं रहा था और इसलिए वह लोक सेवक नहीं रहा था। दूसरे शब्दों में वह 9 अगस्त, 1982 को जबकि न्यायालय ने उसके विरुद्ध अपराध का संज्ञान किया मुख्यमंत्री की हैसियत से लोक सेवक नहीं रहा था सूतराम धारा 6 द्वारा यथा अनुध्यात मंजूरी अपराध का संज्ञान करने से पूर्व आवश्यक नहीं थी। लोक सेवक के रूप में अपनी पूर्व हैसियत में किए जाने के लिए अभिकथित अपराधों के लिए अभियुक्त के विरुद्ध अपराधों का संज्ञान करने से पूर्व आवश्यक नहीं थी।

21. (ख) और (ग) के सम्बन्ध में मुस्तैदी से यह दलील दी गई कि यदि अभियुक्त ने एकाधिक पद धारण किए हुए थे जिनमें प्रत्येक का धारण करना उसे लोक सेवक बनाता है तो उसके द्वारा धारित पदों में से प्रत्येक से उसे हटाने के लिए हकदार सक्षम प्राधिकारियों में से प्रत्येक की मंजूरी आवश्यक होगी और यदि सक्षम प्राधिकारियों में से कोई भी मंजूरी अनुदत्त करने में असफल रहता है या मना करता है तो न्यायालय अपराध का संज्ञान करने से प्रवारित है या प्रतिषिद्ध है जिससे कि लोक सेवक आरोपित किया गया है। इस दलील का यह कहकर खण्डन करना चाहा कि धारा 6 में यह बात स्पष्ट है कि उस प्राधिकारी की मंजूरी ही आवश्यक है जो लोक सेवक को उस पद से हटाने के लिए सक्षम है जिसका कि उसने भ्रष्ट हेतुकों के लिए दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है। धारा 6(1) (ग) एकमात्र ऐसा उपबन्ध है कि जिसका अभियुक्त की ओर से यह कहने के लिए अवलम्ब लिया गया है कि विधान सभा सदस्य के रूप में वह अपराधों का संज्ञान करने की तारीख को लोक सेवक था और इसलिए उस प्राधिकारी की मंजूरी जो उसे उस पद से हटाने के लिए सक्षम है अपराधों का संज्ञान करने के लिए अनिवार्य है। धारा 6 (1) (ग) किसी लोक सेवक द्वारा किए जाने के लिए अभिकथित अपराधों का संज्ञान करने से उसके पद से उसे हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी की पूर्व मंजूरी के सिवाय वर्जित है।

22. विरोधी दलीलों का अधिमूल्यन करने के लिए चर्चाधीन विषय से सुसंगत स्थिति पर ध्यान दिया जाना चाहिए। सन् 1980 में हुए आम चुनाव में अभियुक्त श्रीवर्धन विधान सभा निर्वाचन क्षेत्र से महाराष्ट्र राज्य के विधानसभा के सदस्य के रूप में निर्वाचित हुआ था। उसे महाराष्ट्र राज्य के मुख्यमंत्री

के रूप में नियुक्त किया गया था और वह उस समय उस पद को धारण किए हुए था जब कि उसके विरुद्ध परिवाद में उपवर्णित अपराध किए जाने का अभिकथन किया गया था। उसने मुख्यमंत्री के पद से त्यागपत्र दे दिया था और वह 20 जनवरी, 1982 को उस पद पर नहीं रहा था तथापि वह विधान सभा सदस्य के रूप में उस पद को धारण किए हुए था। दलील यह है कि विधान सभा सदस्य की हैसियत से वह लोक सेवक था जिस दलील का गम्भीर रूप से खण्डन किया गया है जिसकी हम हाल ही में परीक्षा करेंगे और कि वह उस तारीख को जब कि विधिमान्य मंजूरी के बिना परिवाद में उपवर्णित अपराधों का न्यायालय ने संज्ञान किया था और इसलिए न्यायालय को अपराधों का संज्ञान करने की अधिकारिता नहीं थी। इन दलीलों के समर्थन मे यह कहा गया था कि यदि धारा 6 और दण्ड प्रकिया संहिता की धारा 197 के समान इसी प्रकार के उपबन्धों की अन्तर्निहित नीति निरर्थक और काल्पनिक अभियोजनों को चलाने के परिणामस्वरूप लोक सेवक को परेशानी से बचाना था तो वह पराजित हो जाएगी यदि यह मान लिया जाता है कि अभियोजन करने की मंजूरी उस पद से लोक सेवक को हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी से आवश्यक है जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया है कि उसका उसने दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है। इस प्रकार कार्यवाही करते समय यह कहा गया था कि चाहे अभियुक्त एक हैसियत में उस पद को छोड़ने के पश्चात् लोक सेवक नहीं रहा था, जिसके बारे में दुष्प्रयोग या दुरुपयोग किए जाने का अभिकथन है फिर भी यदि वह किसी अन्य हैसियत में लोक सेवक बना रहता है तो पश्चात्वर्ती पद से उसे हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी को इस बात का विनिश्चय करना होगा कि क्या अभियोजन निरर्थक और काल्पनिक है और विस्तृत लोक हित में मंजूरी अनुदत्त करने से मना करके इसे निष्फल करना होगा। यह भी दलील दी गई थी कि यदि किसी लोक सेवक को किसी लोक कर्तव्य का पालन करना होता है और वह कुछ लोक कर्तव्यों का पालन करता है और उसे न्यायालयों में प्रतीक्षा करनी पड़ती है तो लोकहित को उसको कर्तव्य से दूर रखकर आघात पहुंचेगा और इसलिए धारा 6 के अन्तर्निहित उद्देश्य को बढ़ाने के लिए न्यायालय को यह अभिनिर्धारित करना चाहिए कि यदि कोई लोक सेवक जिसे अभियोजित किया जा रहा है एक लोक पद से अधिक पद धारण किए हुए हैं जिसमें से प्रत्येक का धारण करना उसे लोक सेवक बनाता है तो उसे प्रत्येक पद से हटाने के लिए हकदार प्रत्येक सक्षम प्राधिकारी की मंजूरी उसके विरुद्ध अपराध का संज्ञान करने से पूर्व आवश्यक होगी। यह दलील दी गई थी कि यह दृष्टिकोण धारा 6 की अन्तर्निहित नीति को पुष्ट करेगा और आगे बढ़ाएगा और प्रतिकूल दृष्टिकोण उसको पराजित करेगा।

23. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161, 164 और 165 तथा 1947 के अधिनियम की धारा 5 में विहित अपराधों का लोक सेवक के पद के साथ घनिष्ठ और अविभेद्य सम्बन्ध है। लोक सेवक पद को धारण करता है जो उसे लोक सेवक बनाता है और पद को धारण करने के साथ पद को प्रदत्त शक्तियां होती हैं। सामान्यतया शक्ति किसी व्यष्टिक व्यक्ति को प्रदत्त नहीं की जाती। विधि के नियम द्वारा शासित समाज में शक्ति पद को प्रदत्त की जाती है या कानूनी हैसियत द्वारा अर्जित की जाती है और व्यष्टि जो पद का अधिभोग करता है या जिसे हैसियत प्रदत्त की गई है उस पद की शक्ति का उपभोग करता है या शक्ति हैसियत से प्रभावित होती है केवल पद धारक को ही उस पद का दुष्प्रयोग या दुरुपयोग करने का अवसर प्राप्त होता है। ये धाराएं एक निश्चित स्वयं-सिद्धि को संहिताबद्ध करती हैं कि शक्ति का रुझान भ्रष्टाचार की ओर होता है। पद का धारण करना उसे भ्रष्ट हेतुक के लिए प्रयोग करने का अवसर प्रदान करता है। इसलिए भ्रष्ट आचरण प्रत्यक्षतः पद द्वारा प्रदत्त शक्ति पर निर्भर है और उससे प्रवाहित होता है। व्यष्टि और पद के बीच जिसे वह धारण करता है वह परस्पर सम्बन्ध और परस्पर तंत्रता सारभूत है और विभाजनीय नहीं हैं। धारा 6 की उपधारा (1) के तीन खण्डों में से प्रत्येक पद व्यक्ति का प्रयोग करता है और मंजूरी अनुदत्त करने की शक्ति लोक सेवक को उसके पद से हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी को प्रदत्त की गई हैं और धारा 6 लोक सेवक द्वारा किए गए अपराध का संज्ञान करने से पूर्व मंजूरी की अपेक्षा करती है। लोक सेवक द्वारा पद की शक्ति का दुष्प्रयोग या दुरुपयोग करके अपराध किया जाता है और उस पद से उसे हटाने के लिए प्राधिकारी को सक्षम होना चाहिए जिससे कि वह मंजूरी प्रदत्त करने का हकदार हो सके। हटाए जाने से पद और पद के धारक के बीच परस्पर सम्बन्ध समाप्त हो जाएगा। दुरुपयोग करने के अवसर के साथ शक्ति और पद के धारक के बीच सम्बन्ध पद से अलग करके पृथक् कर दिया जाएगा इसलिए जब कोई लोक सेवक किसी शासकीय कार्य को करने या करने से विरत रहने के लिए किसी स्थानीय पारिश्रमिक से भिन्न किसी पारितोषण को प्राप्त करने के अपराध से अभियोजित किया जाता है (भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161) या लोक सेवक की हैसियत में धारा 161 और 163 के अधीन दण्डनीय अपराधों का दुष्प्रयोग करता है (भारतीय दण्ड संहिता की धारा 164) या लोक सेवक की हैसियत से ऐसे लोक सेवक द्वारा की गई किसी कार्यवाही या किए गए किसी कारबार में सम्बन्धित व्यक्ति से प्रतिफल के बिना किसी मूल्यवान वस्तु को अभिप्राप्त करता है (भारतीय दण्ड संहिता की धारा 165)

या 1947 के अधिनियम की धारा 5 में यथा परिभाषित दांडिक कदाचार कारित करता है तो विभिन्न अपराधों में यह बात स्पष्ट है कि लोक सेवक ने लोक सेवक की हैसियत में उसके द्वारा धारित पद की शक्ति का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है। धारा 6(1) के तीन उपखण्डों में "पद" अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से उस पद को प्रकट करती है जिसका लोक सेवक ने भ्रष्ट हेतुक के लिए दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है जिसके लिए उसका अभियोजन किया जाना है और जिसके सम्बन्ध में उसका अभियोजन करने के लिए मंजूरी उस पद से जिसका कि उसने दुरुपयोग किया है उसे हटाने के लिए हकदार सक्षम प्राधिकारी द्वारा आवश्यक है। पद और उसके दुरुपयोग के सम्बन्ध में यह परस्पर सम्बन्ध यदि अलग कर दिया जाए तो धारा 6 को अर्थविहीन कर देगा और यह परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट रूप से धारा 6 में उपबन्ध को समझने के लिए स्पष्ट संकेत का उपबन्ध करता है जिसमें सक्षम प्राधिकारी द्वारा मंजूरी का उपबन्ध है जो वर्जन को दूर करने से पूर्व लोक सेवक की कार्यवाही का निर्णय करने में समर्थ होगा, मंजूरी अनुदत्त करके लोक सेवक के विरुद्ध न्यायालय द्वारा अपराध का संज्ञान करेगा। इसलिए अविवादास्पद रूप से यह पता चलता है कि अभियोजन करने की मंजूरी लोक सेवक को उस पद से हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी द्वारा दी जाती है जिसका उसने दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है क्योंकि केवल वह प्राधिकारी ही इस बात को जानने में समर्थ हो सकेगा कि क्या लोक सेवक द्वारा पद का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया गया है और किसी बाहरी पदाधिकारी नहीं। विनिश्चयों की एक लम्बी श्रेणी के द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि मंजूरी अनुदत्त करने के हकदार प्राधिकारी को मामले के तथ्यों पर ध्यान देना चाहिए, साक्ष्य एकत्रित करना चाहिए और मंजूरी देने से पूर्व अन्य सहायक तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए। मंजूरी का अनुदान मात्र एक औपचारिकता नहीं है किन्तु एक पवित्र और पावन कार्य है जो निरर्थक अभियोजनों के विरुद्ध सरकारी सेवकों के संरक्षण के आवरण को दूर करता है और इसलिए उपरोक्त अध्यपेक्षाओं का कठोरता से अनुपालन किया जाना चाहिए पूर्व इसके कि लोक सेवकों के विरुद्ध अभियोजन शुरू किया जा सके। (देखिए **मोहम्मद इकबाल अहमद** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**[1]) प्रज्ञापित रूप से विधानमण्डल ने लोक सेवक को पद से हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी को शक्ति प्रदत्त की है जिससे की इस स्पष्ट कारण के लिए मंजूरी अनुदत्त कर सके कि वह प्राधिकारी ही, जब कि उसके समक्ष तथ्य और साक्ष्य रखे जाएंगे, इस बात का निर्णय करने में समर्थ होगा कि क्या कोई गम्भीर

---

[1] [1979] 2 एस० सी० आर० 1007.

अपराध किया गया है या अभियोजन या तो निरर्थक है या काल्पनिक है। वह प्राधिकारी ही इस बात का निर्णय करने के लिए सक्षम होगा कि क्या अभिकथित तथ्यों पर लोक सेवक द्वारा धारित पद का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया गया है। वह प्राधिकारी ही जानने की स्थिति में होगा कि जो शक्ति उसके पद को प्रदत्त की गई थी जिसे लोक सेवक धारित करता है किस प्रकार से उस शक्ति का भ्रष्ट हेतुक के लिए दुरुपयोग किया जा सकता है और कि क्या प्रथम-दृष्टया ऐसा किया गया है। केवल वह सक्षम प्राधिकारी ही उस पद को धारण करने वाले लोक सेवक द्वारा पालन किए जाने वाले कर्तव्यों और उसकी प्रकृत्ति को जानेगा और कि क्या उसमें से किसी का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया गया है। लोक सेवक को उस पद से हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी और लोक सेवक द्वारा जिसके विरुद्ध मंजूरी की मांग की गई है धारित पद के स्वरूप के बीच यह एक शीर्ष सोपानतंत्र है जो इस सौपानतंत्र को उपदर्शित करेगा और इसलिए जो उस पद के कार्यों और कर्तव्यों के बारे में है और लोक सेवक द्वारा उसके दुरुपयोग या दुष्प्रयोग के बारे में ज्ञान के अनुमान को अनुज्ञात करेगा। यही कारण है कि विधानमण्डल ने स्पष्ट रूप से इस बात का उपबन्ध किया कि वह प्राधिकारी ही मंजूरी अनुदत्त करने के लिए सक्षम होगा जो लोक सेवक को जिसके विरुद्ध पद से मंजूरी चाही गई है हटाने का हकदार होगा।

24. अब यदि लोक सेवक से पद धारण करता है और उसे एक का दुरुपयोग करने के लिए दोषी ठहराया गया है और जिससे उसे हटाया गया है, किन्तु वह एक अन्य पद धारण किए रहता है जिसके बारे में न तो उसके प्रयोग करने और न ही दुरुपयोग करने का अभिकथन है तो क्या उस पद से जिसके बारे में न तो कोई अभिकथन किया गया है न ही उसका दुरुपयोग या दुष्प्रयोग दर्शाया गया है, सक्षम प्राधिकारी की मंजूरी आवश्यक है? दलील यह है कि यदि निरर्थक अभियोजन के द्वारा लोक सेवक की परेशानी और न्यायालयों में अपने लोक कर्तव्यों का निर्वहन करने से उसे अलग रख के उसके समय की दांडिक बरबादी धारा 6 के अन्तर्निहित उद्देश्य है और यदि यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि पश्चात्वर्ती प्राधिकारी की मंजूरी आवश्यक नहीं है तो यह पराजित हो जायेगा। इस दलील से हम प्रभावित नहीं हैं। हम यह समझने में असफल हैं कि किस प्रकार से लोक सेवक को पद से जिसके बारे में प्रयोग या दुष्प्रयोग करने का अभिकथन नहीं है, हटाने के लिए हकदार सक्षम प्राधिकारी इस बात का विनिश्चय करने में समर्थ होगा कि क्या अभियोजन निरर्थक या उद्देश्य मूलक है। उदाहरण विद्वान् काउन्सेल द्वारा हमारे समक्ष दिया गया था

कि मन्त्री जो विवादास्पद रूप से लोक सेवक है, ने मन्त्री की हैसियत में अपने पद का दुष्प्रयोग करके रिश्वत ली है और फिर वह उसके विरुद्ध अपराध का संज्ञान करने के लिए न्यायालय को कहे जाने से पूर्व उस पद पर नहीं रहा था और इसलिए धारा 6 द्वारा यथा अनुध्यात मंजूरी आवश्यक नहीं होगी। किन्तु यदि अपराध करने के पश्चात् और अपराध का संज्ञान करने की तारीख से पूर्व वह नगरपालिका का अध्यक्ष चुन लिया जाता है जिस हैसियत में वह सुसंगत नगरपालिका विधि के अधीन लोक सेवक है और उस पद को उस तारीख को जिसको कि न्यायालय ने मन्त्री की हैसियत में उसके द्वारा किए गये अपराध का संज्ञान किया था उस पद को धारण किए हुए था तो क्या किसी मन्जूरी की आवश्यकता होगी और वह भी नगरपालिका अध्यक्ष के पद से उसे हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी की। उत्तर सकारात्मक था। किन्तु वही उदाहरण यह दर्शायेगा कि विधि ऐसी नहीं हो सकती। धारा 6 का ऐसा निर्वचन बेईमान लोक सेवक की रक्षा करेगा, संरक्षण में हितबद्ध कोई व्यक्ति उसे लोक सेवक के एक पद से एक अन्य पद में बदल देगा और उसके द्वारा विधि की प्रक्रिया को पराजित कर देगा। विधिमान्य रूप से कोई व्यक्ति ऐसी स्थिति की परिकल्पना कर सकता है जहां कि कोई व्यक्ति दर्जनों भिन्न पद धारण किए हुए हैं जिनमें से प्रत्येक भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 के अधीन उसे लोक सेवक की हैसियत देता है और चाहे उसने केवल एक पद का दुरुपयोग किया है जिसके लिए या तो उसका अभियोजन करने के लिए विधिमान्य मंजूरी है या वह कुछ समय तक उस पद को छोड़ चुका है न्यायालय को संज्ञान करने के लिए कहा गया है, फिर भी इस धारणा पर 11 भिन्न समक्ष प्राधिकारियों की मंजूरी जिनमें से प्रत्येक उसे 11 भिन्न-भिन्न लोक पदों से हटाने की हकदार थी ऐसे लोक सेवक द्वारा किए गये अपराध का संज्ञान न्यायालय द्वारा किए जाने से पूर्व आवश्यक होगा जबकि एक पद का दुरुपयोग जो कि वह छोड़ चुका है उसने किया था। ऐसा निर्वचन अर्थान्वयन के सभी सिद्धांतों के प्रतिकूल है और इससे असंगतता पैदा होती है और उसकी आवश्यकता से बचना चाहिए। विधान का सभी प्रकार से इस प्रकार निर्वचन करना चाहिए कि जिससे कि यह धूर्त प्रपत्र के रूप में प्रवर्तित न हो सके (देखिए **डेविस एन्ड सन्स लिमिटेड** बनाम **एटकिन्स**[1])।

25. **एयर कमांडर कैलाश चन्द** बनाम **राज्य (एस० पी० ई० हैदराबाद)**[2] के मामलों में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के विनिश्चय से और

---

[1] [1977] इम्पीरियल कोर्ट रिपोर्ट्स 662.

[2] [1973] 2 आन्ध्र वीकली रिपोर्ट्स 263.

राज्य (एस० पी० ई० हैदराबाद) बनाम एयर कमांडर कैलाश चन्द[1] के मामले में इस न्यायालय द्वारा उस विनिश्चय की पुष्टि के लिए दलील का समर्थन चाहा गया। उस मामले में अभियुक्त कैलाश चन्द भारतीय वायु सेना का सदस्य था जो 17 नवम्बर, 1941 से सेवा में आया था। वह 15 जून, 1955 को सेवा से सेवा निवृत हुआ था किन्तु 16 जून, 1955 से दो वर्षों की कालावधि के लिए सेवा में पुनः नियोजित किया गया था। 7 सितम्बर, 1966 को 16 जून, 1965 से 15 जून, 1970 तक अर्थात् पांच वर्षों की कालावधि के लिए नियमित वायु सेना आरक्षिती में स्थानान्तरित कर दिया गया था। 13 मार्च, 1968 को प्रत्यर्थी को दिया गया पुनः नियोजन समाप्त हो गया और उसकी सेवा 1 अप्रैल, 1968 से समाप्त कर दी गई। उसके विरुद्ध भ्रष्टाचार निवारण अधिनिम, 1947 की धारा 5(2) के अधीन 29 मार्च, 1965 से 16 मार्च, 1967 की कालावधि के दौरान अपराध किए जाने के लिए एक आरोप-पत्र दिया गया। अभियुक्त की ओर से यह दलील दी गई कि न्यायालय लोक सेवक के रूप में उसके द्वारा धारित पद से उसे हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी की विधिमान्य मंजूरी के न होने की दशा में अपराध का संज्ञान नहीं कर सकता था। विद्वान विशेष न्यायाधीश ने इस दलील को नकार दिया। उच्च न्यायालय में अभियुक्त द्वारा फाइल पुनरीक्षण पिटीशन में विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि अपराध का संज्ञान करने की तारीख को अभियुक्त नियमित वायु सेना आरक्षण का सदस्य था जो रिजर्व और सहायक वायु सेना अधिनियम, 1952 और तदधीन बनाए गए नियमों के अधीन स्थापित की गई थी। तदनुसार यह अभिनिर्धारित किया गया कि उसका अभियोजन करने के लिए मंजूरी आवश्यक थी और उसके न होने की दशा में न्यायालय अपराधों का संज्ञान नहीं कर सकता था और अभियोजन अभिखण्डित कर दिया गया था। प्रमाण-पत्र लेकर अपील में इस न्यायालय नें उच्च न्यायालय के विनिश्चय की पुष्टि कर दी। इस न्यायालय ने **एस० ए० वेकटरमन के मामले**[2] में विनिश्चय का अनुसरण करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि यदि लोक सेवक अपराध का संज्ञान करने के समय लोक सेवक नहीं रहा है तो धारा 6 लागू नहीं होती। इसके पश्चात् न्यायालय ने इस बात की परीक्षा की कि क्या अभियुक्त उस तारीख को जबकि न्यायालय ने अपराध का संज्ञान किया था लोक सेवक था और यह निष्कर्ष निकाला कि एक बार जब अभियुक्त सहायक वायु सेना में स्थानान्तरित

---

[1] [19 0] 2 एस० सी० आर० 697.

[2] [1958] एस० सी० आर० 1040.

कर दिया गया था उसने लोक सेवक के रूप में अपनी हैसियत को बनाये रखा क्योंकि उससे प्रशिक्षण लेने की अपेक्षा थी और उसे जब भी आवश्यक हो सेवा के लिए बुलाया जा सकता था। न्यायालय ने आगे यह अभिनिर्धारित किया कि इसलिए अभियुक्त लोक सेवक था और भारतीय वायु सेना का सक्रिय सदस्य था और धारा 6 के अधीन उसका अभियोजन करने के लिए मंजूरी आवश्यक थी। यह विनिश्चय इस स्पष्ट कारण से उसकी कोई सहायता नहीं करता कि कहीं भी न्यायालय के समक्ष यह दलील नहीं दी गई थी कि कौन-से पद का अभियुक्त द्वारा दुरुपयोग किया गया है और कि क्या दो पद पृथक और भिन्न थे। यह बात भी स्पष्ट नहीं की गई है कि क्या अभियुक्त उस पद को धारण करता रहा था जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया था कि अपराध का संज्ञान करने के समय उसका दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया गया था। किन्तु यह ऐसा नहीं हो सकता था क्योंकि अभियुक्त की सेवा 1 अप्रैल, 1958 को समाप्त कर दी गई थी जबकि जून, 1961 में संज्ञान किए जाने की मांग की गई थी। अविवादास्पद रूप से अभियुक्त लोक सेवक के रूप में उस पद को धारण करने से समाप्त हो गया था जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया था कि उसका उसने दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है। तथापि न्यायालय को हमारे समक्ष दलील दी गई दलीलों पर विचार करने के लिए नहीं कहा गया था, न ही न्यायालय को विनिर्दिष्ट रूप से इस बात की सूचना दी गई थी कि क्या पश्चात्वर्ती पद जो उस मामले में अभियुक्त द्वारा धारण किया गया था वही पद था जिससे उसकी सेवा समाप्त कर दी गई थी जिसका अर्थ यह है कि वह उसी पद से पुनः नियोजित किया गया था। यह विनिश्चय मामले के तथ्यों पर आगे बढ़ता दिखाई देता है तथापि हम इस बात को बहुत ही स्पष्ट कर देना चाहेंगे कि यदि दो विनिश्चयों का आशय यह अधिकथित करना है कि चाहे लोक सेवक लोक सेवक के रूप में उस पद को धारण करने से समाप्त हो गया है जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया है कि भ्रष्ट हेतुक के लिए उसने उनका दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है किन्तु अपराध का संज्ञान करने की तारीख को जिसके बारे में लोक सेवक की हैसियत से उसके द्वारा किए जाने का अभिकथन किया गया है जिसको वह छोड़ चुका है, और वह पूर्णतया एक भिन्न लोक पद धारण किए हुए है जिसके बारे में न तो यह अभिकथन किया गया है कि उसने एक भ्रष्ट हेतुक के लिए उसका दुष्प्रयोग किया है या दुरुपयोग किया है फिर भी उसे ऐसे पश्चात्वर्ती पद से हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी की मंजूरी उस अपराध का संज्ञान करने से पूर्व आवश्यक होगी जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया है कि लोक सेवक ने उस पद को

धारण करते हुए वह अपराध किया है जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया है कि उसका उसने दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है और जिसको वह अब धारण नहीं करता है। हमारी राय में यह विनिश्चय सही विधि अधिकथित नहीं करता और इसे धारा 6 के सही निर्वचन करने के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

26. इसलिए धारा 6 के सही निर्वचन पर उसमें यह बात स्पष्ट है कि केवल उस सक्षम प्राधिकारी की मंजूरी ही आवश्यक होगी जो लोक सेवक को उस पद को हटाने के लिए सक्षम है जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया है कि उसने भ्रष्ट हेतुक के लिए उसका दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है और जिसके लिए अभियोजन उसके विरुद्ध शुरू किए जाने का आशय है।

27. अभियुक्त के विरुद्ध फाइल परिवाद में इस बात का बार-बार अभिकथन किया गया है कि महाराष्ट्र राज्य के मुख्य मन्त्री की हैसियत से अभियुक्त ने विभिन्न स्रोतों से वैद्य पारिश्रमिक से भिन्न परितोषण स्वीकार किए हैं और इस प्रकार से परिवाद में उपवर्णित विभिन्न अपराध किए हैं। कहीं भी यहां तक की फुसफुसाहट में भी इस बात का अभिकथन नहीं किया गया है कि अभियुक्त ने विधान सभा सदस्य के रूप में अपने पद का भ्रष्ट हेतुक के लिए दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया है। इसलिए यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि अभियुक्त के विरुद्ध फाइल परिवाद मुख्य मंत्री के रूप में उनके पद के दांडिक दुरुपयोग या दुष्प्रयोग से ही आरोपित करते हैं। इस समय तक न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने के लिए कहा गया था जो परिवाद में अभिकथित किए गए थे। अभियुक्त का मुख्य मंत्री के पद को धारण करना समाप्त हो गया था। इस संक्षिप्त आधार पर यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि उसको अभियोजित करने के लिए मंजूरी महाराष्ट्र राज्य के भूतपूर्व मुख्य मंत्री के रूप में आवश्यक थी। अपील केवल इस संक्षिप्त आधार पर सफल हो सकती है तथापि चूंकि पक्षकारों के बीच वास्तविक झगड़े की जड़ यह थी कि क्या विधान मंडल के सदस्य के रूप में अभियुक्त लोक सेवक था और इस दलील को काफी विस्तार में दिया गया। हम उस पर ही चर्चा करने का प्रस्ताव करते हैं।

28. विद्वान् विशेष न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि विधान सभा के सदस्य के रूप में अभियुक्त लोक सेवक है क्योंकि वह सरकार के वेतन में है या उसे सरकार द्वारा लोक कर्तव्य के करने के लिए शुल्क द्वारा पारिश्रमिक दिया जाता है। विद्वान् विशेष न्यायालय ने साथ-साथ अभियुक्त की ओर से दी गई इस दलील को नामंजूर कर दिया कि अभियुक्त लोक सेवक है क्योंकि

1984(2) eILR(PAT) SC 1

वह विधि द्वारा धारा 21 के तीसरे खंड द्वारा यथा अनुध्यात न्यायनिर्णयन सम्बन्धी कर्तव्यों को करने वाले व्यक्तियों के निकाय का एक सदस्य के रूप में विधि द्वारा सशक्त व्यक्ति है।

29. **"घ" के सम्बन्ध में** - हम पहले विद्वान् विशेष न्यायाधीश के निष्कर्ष की सत्यता या अन्यथा की परीक्षा करेंगे कि क्या विधान सभा सदस्य के रूप में अभियुक्त सरकार के वेतन में था या किसी लोक कर्तव्य के पालन के लिए सरकार से फीस के रूप में पारिश्रमिक पाता था जिससे कि उसे भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के खंड (12)(क) के अर्थान्तर्गत लोक सेवक की हैसियत दी जा सकती है। खंड (12) (क) में इस बात का उपबंध है कि ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो सरकार की सेवा या वेतन में हो या किसी लोक कर्तव्य के पालन के लिए सरकार से फीस या कमीशन के रूप में पारिश्रमिक पाता हो, लोक सेवक होगा। विद्वान् विशेष न्यायाधीश के अनुसार खंड (12) (क) के तीन भाग इस प्रकार हैं—

(i) सरकार की सेवा में प्रत्येक व्यक्ति, या

(ii) सरकार के वेतन में प्रत्येक व्यक्ति, या

(iii) सरकार द्वारा किसी लोक कर्तव्य के पालन के लिए फीस या कमीशन के रूप में पारिश्रमिक पाने वाला प्रत्येक व्यक्ति।

यदि कोई व्यक्ति विद्वान् विशेष न्यायाधीश के अनुसार तीन भागों में से किसी में आता है तो वह भारतीय दंड संहिता की धारा 21 की अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक होगा।

30. विद्वान् एकल न्यायाधीश के समक्ष यह मान लिया गया था और हमारे समक्ष उसे अस्वीकार नहीं किया गया है कि अभियुक्त का मामला प्रथम भाग के भीतर नहीं आता अर्थात् विधान परिषद् के सदस्य के रूप में अभियुक्त को सरकार की सेवा में नहीं कहा जा सकता। दलील यह है कि विधान सभा सदस्य के रूप में महाराष्ट्र लेजिसलेचर्स मेम्बर्स सेलरी एण्ड अलाउंसिस ऐक्ट, 1956 के अधीन अपना वेतन प्राप्त करते समय सरकार के वेतन में था और है। दलील का दूसरा भाग यह था कि चाहे वह वेतन जिसे सुसंगत अधिनियम के अधीन विधान परिषद् सदस्य के रूप में अभियुक्त ने प्राप्त किया वह अभियुक्त को सरकार के वेतन में व्यक्ति नहीं बनाती। इस पर भी उसके द्वारा प्राप्त वेतन वह पारिश्रमिक होगा जो अभियुक्त

सरकार से लोक कर्तव्य करने के लिए प्राप्त करेगा। परिवादी की ओर से यह दलील दी गई थी कि सरकार के वेतन में अभिव्यक्ति उस संदर्भ में जिसमें कि इस अभिव्यक्ति की धारा 21(12)(क) में प्रयोग किया गया है केवल एक ही अर्थ होगा कि संदाय स्वामी द्वारा सेवक को होना चाहिए और जब तक कि स्वामी और सेवक का सम्बन्ध नहीं है या दाता और आदाता के बीच आदेश और आज्ञा पालन का सम्बन्ध नहीं है मात्र संदाय चाहे उसे वेतन का नाम दे दिया जाए, का अर्थ यह नहीं होगा कि आदाता दाता के वेतन में है। आगे चर्चा करते हुए यह दलील दी गई थी कि विधान सभा सदस्य को सरकार द्वारा किसी आदेश के आज्ञा पालन के अधीन नहीं कहा जा सकता और इसलिए विधान सभा सदस्य के रूप में अभियुक्त को "सरकार के वेतन में" नहीं कहा जा सकता। और जहां तक की तीसरे भाग का सम्बन्ध है यह दलील दी गई कि विधान सभा सदस्य के रूप में अभियुक्त लोक कर्तव्य का पालन नहीं कर रहा था जिसके करने के लिए उसे सरकार द्वारा पारिश्रमिक दिया जा रहा हो। इसके अतिरिक्त यह दलील दी गई थी कि खंड (12)(क) में "सरकार" अभिव्यक्ति का वही अर्थ लिया जाना चाहिए जो उसे भारतीय दंड संहिता की धारा 17 में समनुदिष्ट किया गया है जिसका अर्थ यह है कि यह केन्द्रीय सरकार या राज्य की सरकार जैसा भी संदर्भ अपेक्षा करे, को प्रकट करता है। यह दलील दी गई थी कि उस भाव में खंड (12)(क) में "सरकार" अभिव्यक्ति का अर्थ कार्यपालिक सरकार होगा और यदि यह कहा जाता है कि विधान सभा सदस्य कार्यपालिक सरकार या राज्य सरकार के वेतन में है तो इससे विरोधी पक्ष को आघात पहुंचेगा। अभियुक्त की ओर से इन दलीलों का यह कह कर खंडन किया गया है कि "या" शब्द का प्रयोग वियोजक और न कि संयोजक को विशेषित करता है और उस दृष्टिकोण से देखने पर खंड (12)(क) का पहला भाग "सरकार की सेवा में" स्वामी सेवक या आदेश और आज्ञा पालन के सम्बन्ध के आशय का अर्थ देगा किन्तु "सरकार के वेतन में" अभिव्यक्ति उस बात से भिन्न कुछ और विशेषित करेगी जो पहले भाग में सम्मिलित है और चूंकि विधानमंडल को पुनरुक्ति या समाधिकता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। "सरकार के वेतन में" अभिव्यक्ति में स्वामी सेवक का आशय या आदेश आज्ञा पालन सम्बन्ध सम्मिलित होगा। यह दलील दी गई थी कि बोधगम्य रूप से सरकार की सेवा में ऐसा व्यक्ति हो सकता है यद्यपि सरकार द्वारा उसे संदाय नहीं किया जा सकता और प्रतिकूलतः ऐसा व्यक्ति हो सकता है "जो सरकार के वेतन में हो किन्तु सरकार की सेवा के बिना हो।" अभियुक्त की ओर से यह भी दलील

1984(2) eILR(PAT) SC 1

दी गई थी कि यह कहना सांविधानिक अप्रासंगिकता होगी कि विधान सभा सदस्य कोई लोक कृत्य नहीं करता। उसका कर्तव्य राजनैतिक या नैतिक हो सकता है जैसा कि परिवादी की ओर से दलील दी गई है किन्तु इस पर भी यह सांविधानिक कर्तव्य है जिसका वह पालन कर रहा है और वह कर्तव्य खंड (12)(क) में "लोक कर्तव्य" अभिव्यक्ति में समाविष्ट है। सहज परिणाम-स्वरूप यह दलील दी गई थी कि वेतन के रूप में पारिश्रमिक जो अभियुक्त प्राप्त करता है और प्राप्त करता रहा है जब तक कि वह सुसंगत अधिनियम के अधीन मुख्य मन्त्री होना समाप्त हो गया है सरकार द्वारा लोक कर्तव्य के करने के लिए पारिश्रमिक है। अगला प्रश्न जो विरोधी दलीलों पर उद्भूत होता है वह खण्ड (12)(क) में वेतन अभिव्यक्ति और "सरकार" अभिव्यक्ति के अर्थान्वयन का प्रश्न है।

31. प्रारम्भ में अभियुक्त की ओर से विद्वान् काउन्सेल ने यह चेतावनी दी कि न्यायालय को महान भूतकाल का अन्वेषण करके और अर्थान्वयन किए जाने वाले उपबंध के ऐतिहासिक क्रम-विन्यास की खोज करके विधायी उपबंध के सही अर्थान्वयन पर पहुंचने के लिए अपीलार्थी के अननुज्ञेय प्रयत्न के बारे में स्पष्ट मार्ग दर्शन करना चाहिए। जोर देकर यह दलील दी गई थी कि अर्थान्वयन के लिए सुझाई गई यह बाहरी सहायता बहिष्कारी नियम के अन्तर्गत आती है और इसका लाभ नहीं उठाया जा सकता। इसलिए न्यायालय के लिए इस प्रारम्भिक आक्षेप की परीक्षा करना आवश्यक हो गया है जो अर्थान्वयन की बाहरी सहायता का अवलम्ब लेकर की गई है। धारा 21(12)(क) ने सन् 1964 में विद्यमान प्ररूप अर्जित किया था।

32. श्री सिंघवी ने यह दलील दी कि वहां पर भी जहां कि कानून में शब्द अस्पष्ट हैं और जिनके एक से अधिक अर्थ या भाव हो सकते हैं, संसद में बहस या उस आयोग अथवा समिति की रिपोर्ट जो विचाराधीन कानून के अधिनियमन से पूर्व गठित किए गए थे अर्थान्वयन की अनुज्ञेय सहायता नहीं है। इसे बहिष्कारी नियम कहा जाता है। दलील के समर्थन में **असम रेलवेज एण्ड ट्रेडिंग कंपनी लिमिटेड** बनाम **इनलैंड रेवेन्यू कमिश्नर्स**[1] का अवलम्ब लिया गया था जिसमें हाउस आफ लार्ड्स ने रायल कमीशन पर इंकम टैक्स की रिपोर्ट पर इन्कम टैक्स ऐक्ट, 1920 में कतिपय शब्दों के अर्थ को अभिनिश्चित करने के लिए इस आधार पर मना कर दिया था कि आशय को दर्शित करने के प्रयोजन के लिए इस प्रकार का कोई साक्ष्य नहीं था अर्थात् अधिनियम के

[1] 1934 आल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 646 (पुनः मुद्रित).

उद्देश्य का प्रयोजन अनुज्ञेय है। विधानमंडल का आशय ऐसी बाहरी सहायता से जैसा वैध हो कानून के शब्दों में अभिनिश्चित किया जाना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि इस दृष्टिकोण को यूनाइटेड किंगडम में सतत् रूप से अनुसरण किया जाता रहा है क्योंकि **कटिकीरो आफ बूगेंडा** बनाम **अटर्नी जनरल**[1] के मामले में प्रिवी कौंसिल ने ईस्टर्न अफ्रीका के अपील न्यायालय की सहमति से यह अभिनिर्धारित किया था कि व्हाइट पेपर की अन्तर्वस्तु अनुसूची के अर्थान्वयन के प्रयोजन के लिए साक्ष्य में अनुज्ञेय नहीं थी। इसी प्रकार से **सेंट्रल एस्बेस्टोज कंपनी लिमिटेड** बनाम **डोड**[2] के मामले में हाउस आफ लार्ड्स ने कमेटी रिपोर्ट पर ध्यान देने से मना कर दिया था जो अधिनियम के प्रारूपण से पूर्व दी गई थी। **एडमिनिस्ट्रेटर जनरल आफ बंगाल** बनाम **प्रेम लाल मालिक और** अन्य[3] के मामले में प्रिवी कौंसल ने विधान डल की कार्यवाही के निर्देश को अननुमोदित कर दिया था जिसके परिणामस्वरूप 1884 का अधिनियम सं० 2 कलकत्ता उच्च न्यायालय की अपील न्यायपीठ द्वारा धारा 31 के अर्थान्वयन के बारे में उचित सहायता के रूप में पारित किया गया था। इन विनिश्चयों का अवलम्ब लेते हुए हमें इंग्लैंड में विधि की भलि-भांति रूप से स्वीकृत प्रतिपादना से अलग न होने के लिए मनाने हेतु शक्तिशाली दलील दी गई। इन विनिश्चयों द्वारा प्रकट विधि का रुझान विस्तृत रूप से यह उपदर्शित करता है कि विगत दिनों में इंग्लैंड में न्यायालयों का यह दृष्टिकोण था कि सरकार द्वारा नियुक्त आयोग या समितियों की सिफारिशों या व्हाइट पेपर के कानूनों का निर्देश जो विचाराधीन कानून से थोड़ी देर पहले किए गए थे, कानून के अर्थान्वयन के लिए उचित सहायता नहीं थी चाहे कानून के शब्द संदिग्ध हों।

33. रुझान निश्चित रूप से असम्बद्ध दिखाई देता है क्योंकि कानून में संदिग्ध शब्दों के सही अर्थों को विनिश्चित करने के लिए आयोग या समिति की सिफारिशों और रिपोर्टों का निर्देश जो कानून के अधिनियम से पूर्व हुए थे उन्हें अर्थान्वयन के उचित बाहरी सहायता समझी गई है। आधुनिक दृष्टिकोण से काफी हद तक इंग्लैंड में भी बहिष्कारी नियम को समाप्त कर दिया है। **असम रेलवेज ट्रेडिंग कंपनी लिमिटेड** बनाम **इनलैंड रेवेन्यू कमिश्नर्स**[4] के

---

[1] (1960) 3 आल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 849.
[2] (1972) 2 आल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 1135.
[3] आई० एल० आर० 22 कलकत्ता 788.
[4] 19 4 आल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 646 (पुनः मुद्रित).

1984(2) eILR(PAT) SC 1

मामले का **मैसूर राज्य** बनाम **आर० बी० विदाप**[1] के मामले में विनिर्दिष्ट रूप से निर्देश करने के पश्चात् इस न्यायालय की सांविधानिक न्यायपीठ ने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया—

> "शैक्षणिक राय का झुकान और यूरोपियन पद्धति में व्यवहार इस बात का सुझाव देते हैं कि कानून का निर्वचन अर्थ को अभिनिश्चित करने का प्रयोग होने के कारण जो तर्कसंगत रूप से सुसंगत है उसके लिए ऐसी प्रत्येक बात अनुज्ञेय होनी चाहिए।.....
> ब्रिटिश न्यायालयों में अनुसरण किए जाने वाले बहिष्करण के नियम को कम करने के लिए एक बहुत मजबूत मामला बनता है और कानून के शब्दों के अर्थ को पढ़ने के लिए विधायी कार्यवाहियों और इसी प्रकार की सामग्री का निर्देश कम क्षमायाचक नहीं है। यहां पर यह स्पष्ट है तो भाषा अभिभावी होती है किन्तु जहां पर गूढ़ता है या अन्य उपबन्धों के साथ समन्वय की कमी है और अन्य विशेष परिस्थितियों में बाहरी सहायता लेना उचित होगा जैसे कि उपबन्धों के उद्देश्य, सुधार किए जाने वाली रिष्टि, विशेष संदर्भ, लेखकों के शब्द और अन्य सम्बद्ध मामले।"

34. इस दृष्टिकोण से मामले पर विचार करते हुए सांविधानिक न्यायपीठ ने संविधान सभा की कार्यवाहियां और बी० शिवाराव द्वारा लिखित "दि फ्रेमिंग आफ इंडियाज कांस्टिट्यूशन-ए स्टडी" पर विचार किया तथापि यह दलील दी गई थी कि **बिदाप के मामले**[1] में इस न्यायालय ने अंतिम रूप से इस संविवाद को समाप्त कर दिया था न्यायालय **कमिश्नर आफ इन्कम टैक्स, आन्ध्र प्रदेश, हैदराबाद** बनाम **जय लक्ष्मी राइस एण्ड आयल मिल्स कंट्रेक्टर कंपनी लिमिटेड**[2] के मामले का निर्देश कर सकेगा। पृष्ठ 368 पर इस न्यायालय के तीन न्यायाधिपतियों की एक न्यायपीठ ने बहिष्कारी नियम के अन्तर्वर्ती सिद्धांत की परीक्षा के बिना उच्च न्यायालय के दृष्टिकोण से विसम्मति व्यक्त की कि भारत सरकार द्वारा बिल के उपबन्धों की परीक्षा करने के लिए नियुक्त विशेष समिति की रिपोर्ट जिसके द्वारा धारा 26 क आयकर अधिनियम, 1922 में जोड़ी गई थी भागीदारी अधिनियम के सुसंगत उपबन्धों का निर्वचन करने के प्रयोजन के लिए उस पर विचार किया जा सकता था। तथापि यह कहा जा सकता है कि न्यायालय ने बहिष्कारी नियम का निर्देश नहीं किया।

---

1 [1974] 1 एस० सी० आर 589.

2 [1971] 3 एस० सी० आर० 365.

उसने इस आधार पर उच्च न्यायालय के दृष्टिकोण से विसम्मति व्यक्त की कि उच्च न्यायालय द्वारा अवलम्बित कथन भागीदारी अधिनियम की धारा 59 के समरूपी खण्ड 58 के सम्बन्ध में था और उस कथन पर भागीदारी अधिनियम के सुसंगत उपबन्धों का निर्वचन करने के प्रयोजन के लिए विचार नहीं किया जा सकता। इस विनिश्चय पर **विदाप के मामले**[1] में ध्यान नहीं दिया गया था किन्तु **असम रेलवेज एण्ड ट्रेडिंग कंपनी लिमिटेड के मामले**[2] में विनिश्चय जिसका श्री सिंघवी ने अवलम्ब लिया था, विनिर्दिष्ट रूप से निर्देश किया गया था। इसलिए इस विनिश्चय को श्री सिंघवी द्वारा बहस की गई प्रतिपादना के लिए नजीर नहीं माना जा सकता। फिर उसके जन्म के देश में ही वहिष्कारी नियम को **ब्लैक क्लाउसन इंटर नेशनल लिमिटेड बनाम पेपियर वर्क वालडेफ एसछेफनवर्ग ए० सी०**[3] के मामले में गंभीर झटका लगा था। लार्ड साइमन आफ ग्लैंसडेल ने अपने भाषण में ग्रियर रिपोर्ट की ग्राह्यता के प्रश्न की परीक्षा करते समय निम्न प्रकार मत व्यक्त किया था—

> "कम से कम कानूनी उद्देश्य को अभिनिश्चित करना बहुत से सम्भव अर्थों को तुरन्त समाप्त कर देता है जो अधिनियम की भाषा में हों और यदि अभी भी कोई संदिग्धता रहती है तो कानूनी उद्देश्य का विचार उसे सुलझाने के लिए एक साधन है।
>
> कानूनी उद्देश्य मुख्य रूप से स्वयं कानून के उपबन्धों से संग्रहीत किया जा सकता है। इन दिनों जबकि लम्बे शीर्षक दोनों सदनों में संबोधित किए जा सकते हैं मुझे संदिग्धता के मामले में ही इसका सहारा लेने के लिए कोई कारण दिखाई नहीं देता। कानून के साधारण उद्देश्यों के लिए सभी मार्ग दर्शनों में यह सबसे सीधा है। इनके कानूनी उद्देश्य के बारे में अधिनियम के बारे में एक रिपोर्ट सबसे प्रभावकारी सहायता है और मेरे निर्णय से इसका लाभ न उठाना अधिक ज्ञान विरोधी है। वास्तव में यह बात स्पष्ट है और यह एक उच्च प्राधिकार है कि यह इस प्रयोजन के लिए उपलभ्य है।"

और विधि के इस कथन के समर्थन में विद्वान् ला लार्ड द्वारा बहुत से मामलों का अवलम्ब लिया गया। इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि

---

[1] [1974] 1 एस० सी० आर० 589.
[2] 1934 आल इंगलैंड रिपोर्ट्स 646 (पुनः मुद्रित).
[3] (1975) 1 आल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 810.

अनवधानता से यह अभिनिर्धारित किया गया था "कि जहां कानून में संदिग्धता है, न्यायालय को संसद में पेश की गई समिति की रिपोर्ट का ध्यान रखना होगा जिसमें विधान के प्रस्ताव अन्तर्विष्ट हैं जिसके परिणामस्वरूप कानून अधिनियमित किया गया जिससे कि उस रिष्टि का अवधारण किया जा सके जिसका सुधार करने के लिए कानून का आशय था।" यद्यपि सर्वसम्मत दृष्टिकोण यह था कि कानून से पूर्व संसद में पेश की गई समिति की रिपोर्ट उस समय कानून की स्थिति का पता करने के लिए और सुधार किए जाने के लिए अपेक्षित रिष्टि का पता लगाने के लिए देखी जा सकती थी। यह कहा जा सकता है कि बहुमत की यह राय थी कि रिपोर्ट संसद के आशय को अभिनिश्चित करने के लिए नहीं देखी जा सकती थी। अल्पमत (लार्ड डिलपोरने और लार्ड साइमन के अनुसार) की यह राय थी कि जबकि किसी परिवर्तन के बिना प्रारूप विधेयक कानून में अधिनियमित किया गया था तो संसद ने स्पष्ट रूप से कमेटी की सिफारिशों को स्वीकार करने के अपने आशय को प्रकट कर दिया था जिससे यह विवक्षित है कि संसद का आशय वही कुछ करने का था जो उसकी सिफारिशों द्वारा समिति प्राप्त करना चाहती थी। हैल्सबरीज द्वारा लिखित लाज आफ इंग्लैंड, चौथा संस्करण, भाग 44, पैरा 901 का एक निर्देश किसी को भी इस संदेह में नहीं रखेगा कि "कानून के अधिनियमन से पूर्व आयोगों या समितियों की रिपोर्टें उद्देशित रिष्टि और कानून की स्थिति को दर्शाने के लिए ध्यान में रखी जा सकती थीं जैसा कि विधानमंडल द्वारा उसे उस समय समझा गया था जबकि कानून पेश किया गया था।" विधि के कथन के अधीन पाद-टिप्पण में अन्य मामलों में से उद्धृत मामले **सम्राट** बनाम **उल्लुगबोजा**[1] और **सम्राट** बनाम **ब्लैक्सहाम**[2] के मामले हैं जिनमें क्रिमिनल ला रिवीजन कमेटी की आठवीं रिपोर्ट को अर्थान्वयन की बाहरी सहायता के रूप स्वीकार किया गया था। इसलिए इस बात को निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बाहरी नियम उसके जनक देश में ही अंतिम क्षणों में धूलमूल हो रहा है और उसे इस न्यायालय द्वारा अच्छी तरह से समाप्त कर दिया गया है। पूर्वोदाहरणों से भिन्न भी अर्थान्वयन के सभी सिद्धांतों में अन्तर्विष्ट मूल प्रयोजन विधान के अधिनियमन में संसद के आशय की युक्तियुक्त निश्चितता के साथ अभिनिश्चय है। विधान कतिपय उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अधिनियमित किया जाता है। इसका उद्देश्य किसी रिष्टि का सुधार करना या कुछ अधिकारों, बाध्यताओं को सृजित करना या कर्तव्यों को

---

1 (1981) आल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 443.

2 (1982) 1 आल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 582.

अधिरोपित करना होता है। कानून अधिनियमित करने से पूर्व संसद को न्यायिक पुनर्विलोकन के सांविधानिक सिद्धांत के बारे में पता होना चाहिए जिसका अर्थ यह है कि विधान का विश्लेषण किया जाना चाहिए और उसकी सूक्ष्म परीक्षा की जानी चाहिए। अक्सर एक विशेषज्ञ समिति या संयुक्त संसदीय समिति प्रस्तावित विधान के उपबन्धों की परीक्षा करती है। किन्तु चूंकि भाषा विचारों का अपर्याप्त यान है जिसमें आशय अन्तर्विष्ट होता है आंखे जो कानून की परीक्षा करती हैं उनका विभिन्न अर्थ हो सकता है। यदि किसी विधान अर्थान्वयन का अन्तर्विष्ट मूल प्रयोजन संसद के वास्तविक आशय को अभिनिश्चित करना है तो उन सहायताओं को जो संसद को उपलब्ध हैं जैसा कि अधिनियमन से पूर्व विशेष समिति की रिपोर्ट, विद्यमान कानून की विधिक स्थिति, वे परिस्थितियां जिनसे विधान का अधिनियमन आवश्यक हुआ और प्राप्त किए जाने वाला उद्देश्य न्यायालय को क्यों मना किया जाना चाहिए जिसका मुख्य कर्तव्य विधान अधिनियमन में संसद के वास्तविक आशय को प्रभावी करना है। ऐसी मनाही न्यायालय को अर्थान्वयन के एक सारभूत और ज्वलन्त सहायता से वंचित कर देगी। इसलिए पूर्व इंगलिश विनिश्चयों से अलग होने में हमारी यह राय है कि समिति की रिपोर्टें जो विधान के अधिनियमन से पूर्व की थीं, संयुक्त संसदीय समिति की रिपोर्टें अधिनियमन के लिए सूचना एकत्रित करने के लिए स्थापित आयोग की रिपोर्ट अर्थान्वयन के लिए अनुज्ञेय बाहरी सहायताएं हैं। इस सम्बन्ध में क्राफार्ड द्वारा लिखित "स्टेट्यूटरी कंस्ट्रक्शन से एक उद्धरण पृष्ठ 338 का निर्देश करना लाभ पूर्ण होगा। यह निम्न प्रकार पठित है—

> "इस प्रश्न पर न्यायिक मत निश्चित रूप से बिल्कुल एक-मत नहीं है और इस बारे में अमेरिकन विनिश्चय हैं कि कानून का सामान्य इतिहास और मूल विधेयक के संशोधनों और उपांतरणों सहित वे सभी चरण जिनमें अधिनियमन हुआ है, और विधायी समितियों की रिपोर्टें विधानमंडल के आशय को विनिश्चित करने के लिए देखी जा सकती है जहां कि इसी प्रकार कोई संदेह है। किन्तु वे निश्चित रूप से यह मानते हैं कि विधायी इतिहास उस समय अग्राह्य है जबकि कानून के अर्थ में कोई गूढ़ता न हो।"

यूनाइटेड स्टेट्स बनाम सेंट पाल एम० एम० रेलवे कंपनी[1] के मामले में यह मत व्यक्त किया गया है कि "कमेटी की रिपोर्टें जिसमें यथा पुरःस्थापित विधेयक

---

[1] 62 लायर्स एडीशन 1130.

भी सम्मिलित है, इसके पारित होने के क्रम में विधेयक के बनाने में किए गए परिवर्तन और समिति के प्रभारी अध्यक्ष द्वारा किए गए कथन भिन्न आधार पर हैं और उनका अवलंब उचित सीमाओं के अधीन लिया जाना चाहिए। इसलिए धारा के विकास के इतिहास को देखने के बारे में श्री सिंघवी का आक्षेप उसके सभी खंडों के साथ मुडीमैन कमेटी और के० संथानम कमेटी की रिपोर्टें और अर्थान्वयन के ऐसी अन्य बाहरी सहायताओं को नामंजूर किया जाना चाहिए।

35. भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के खंड (12) के इतिहास को इस बात को विनिश्चत करने के दृष्टिकोण से तलाश करने में कि क्या विधान सभा सदस्य धारा 12 के खंडों में से किसी में समाविष्ट होगा जिससे कि वह लोक सेवक है प्रारम्भ में इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि भारतीय दंड संहिता सन् 1860 का कानून है जब कि निर्वाचित विधानमंडल नहीं होते थे और सूतराम वहां पर कोई विधान सभा सदस्य नहीं थे चाहे मेकाले को एक स्वप्नदृष्टा न्याय-निर्णीत किया जाए जो सन् 1860 में अपने समय के काफी पीछे झांक सके इस बात का पूर्वानुमान लगाना उसके लिए अबोधगम्य था कि भारत में ऐसा सांविधानिक विकास होगा और निर्वाचित विधानमंडल स्थापित हो जाएंगे इसकी कल्पना नहीं थी जिसके सदस्यों को किसी और बात के बिना धारा 21 के उपखंडों में से किसी में लोक सेवक के रूप में समाविष्ट किया जाएगा। निस्संदेह विधानमंडल का गठन सामान्यतया अस्थिर प्रकार का नहीं है, किन्तु इसे अधिनियमित किया जाता है और काफी लम्बे समय तक इसे स्टेट्यूट बुक पर रखा जाता है जब तक कि वह समाज जिसके लिए यह बनाया गया है उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हो जाता जिससे कि विधि असंगत या अव्यवहार्य न बन जाए। कोई स्वप्नदृष्टा उन संभव परिवर्तनों का अनुमान कर सकता है जो विद्यमान स्थिति के साथ परस्पर सम्बन्ध रखते हों और जो एक दूसरे तक जाते हों। किन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन जो सन् 1857 में स्वतन्त्रता के प्रथम युद्ध के पश्चात् समाप्त हो गया था सम्भव क्रान्तिकारी परिवर्तनों का अनुमान करना कठिन था जो सन् 1919 तक हो गया था। किसी भी प्रकार से उस समय जबकि भारतीय दंड संहिता अधिनियमित की गई थी। निर्वाचित विधानमंडल नहीं था और इसलिए कोई विधान सभा सदस्य नहीं थे। किसी कानून का विनिर्दिष्ट रूप से अर्थान्वयन करने में न्यायालय परिवर्ती परिस्थितियों को देखता है जबकि कानून अधिनियमित किया गया था। हैल्सबरीज द्वारा लिखित लॉज ऑफ इंग्लैंड, चौथा संस्करण, भाग 44 पैरा 898 में यह मत व्यक्त किया गया था

कि प्राचीन कानूनों का अर्थान्वयन उस भाषा के द्वारा स्पष्ट किया जा सकेगा जिसे न्यायालय समकालीन प्रतिपादन की भाषा कहते हैं अर्थात् यह देखकर कि किस प्रकार से उन्हें उस समय समझा गया था जबकि उन्हें पारित किया गया था निस्संदेह इस सिद्धान्त को आधुनिक कानूनों पर लागू नहीं किया जा सकता या वास्तव में ऐसे किसी कानून को जिसका अर्थ न्यायालय को स्पष्ट और असंदिग्ध दिखाई देता हो। किसी भी प्रकार से उचित रूप से कोई भी यह कह सकता है कि विधान सभा सदस्य को धारा 21 के खंडों में किसी में भी लोक सेवक के रूप में समाविष्ट नहीं किया गया है जबकि भारतीय दंड संहिता सन् 1860 में अधिनियमित की गई थी।

36. लोक निकायों के सदस्यों की भ्रष्ट कार्यवाहियों के सम्बन्ध में विधि के ऐतिहासिक विकास का अगला वह चरण है जो 1925 में पुरःस्थापित बिल में पाया जाता है जिसे विधायी निकाय भ्रष्ट आचरण अधिनियम, 1925 कहा गया है। यह विधेयक मुडीमैन समिति के नाम से जानी जाने वाली रिफार्मस कमेटी की सिफारिशों को प्रभावी करने के लिए पुरःस्थापित किया गया था। श्री एस० के० नाग द्वारा लिखित अबोलिशन ऑफ पार्लियामेंटरी प्रिविलेजिज पुस्तक में लेखक ने उन चरणों को तलाश किया है जिनके कारण विधेयक पुरःस्थापित किया गया था। विधेयक के साथ दिए गए उद्देश्य और कारणों के कथन में यह कहा गया था कि रिश्वत, संत्रास और इसी प्रकार की अन्य बातों के द्वारा विधान सभा के सदस्यों का मतदातओं को भ्रष्ट तरीके से प्रभावित करना सामान्य दांडिक विधि के अधीन दांडिक अपराध बनाया जाना चाहिए और पैरा 124 यह उपदर्शित करता है कि यह सिफारिश सम्पूर्ण समिति की सर्वसम्मत सिफारिश थी। इसके पश्चात् एक बहुत महत्वपूर्ण कथन किया गया जिसे इस प्रकार उद्धृत किया जा सकता है—

> "रिश्वत देना और भारत में विधान सभा के सदस्य द्वारा प्रलोभन के रूप में रिश्वत लेना जिससे कि वह विधान सभा के सदस्य के रूप में एक विशेष प्रकार से कार्य करे, हाल में अपराध नहीं है।"

विधेयक ने इस कमी को पूरा करना चाहा। इससे यह पता चलता है कि सन् 1925 तक इस बात का स्पष्ट रूप से पता था कि विधान सभा सदस्य उस पद का धारक होने की हैसियत में, जो गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1919 के अधीन उस समय तक अस्तित्व में आ चुका था, लोक सेवक नहीं था, जो धारा 21 के खंडों में से किसी में भी नहीं आता था और इस कमी को अध्याय 9ख

पुर:स्थापित करके सुधार करना चाहा जिसका शीर्षक विधान सभा निकायों के सदस्यों द्वारा या उनके सम्बन्ध में अपराधों के बारे में। विधेयक में शब्दकोशीय खंड में विधान सभा निकायों का सदस्य अभिव्यक्ति में विधान सभा सदस्य सम्मिलित होना चाहिए। विधेयक का उद्देश्य गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट के अधीन गठित विधायी निकायों के सदस्यों के सम्बन्ध में या उनके द्वारा भ्रष्ट व्यवहार के लिए दंड का उपबन्ध करना था। इसे केन्द्रीय विधान सभा द्वारा पारित किया जाना था। यह स्वयं सदस्यों द्वारा एक निष्फल प्रयास था जो दंड विधि के क्षेत्र में लाया जाना था। कोई भी व्यक्ति यह कहकर इसका समापन लिख सकता है कि विधेयक विधि में अधिनियमित नहीं किया गया था। विकास के इतिहास में यह द्वितीय चरण है।

37. आगे बढ़ने से पूर्व एक मध्यवर्ती प्रक्रम पर ध्यान देना आवश्यक है जिस पर हमारा ध्यान बहस के दौरान आकर्षित किया गया था। सेठी और अन्य द्वारा लिखित भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 के पृष्ठ 60 पर इस बात का उल्लेख किया गया है कि दांडिक विधि संशोधन अधिनियम (1958 का अधिनियम सं० 2) को स्टेट्यूट बुक में रखे जाने तक भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 में केवल ग्यारह खंड थे। खंड 12 उपरोक्त अधिनियम द्वारा पुर: स्थापित किया गया था और यह इस प्रकार पठित है "प्रत्येक अधिकारी जो स्थानीय प्राधिकरण या किसी निगम की सेवा या वेतन में हो जो किसी व्यापार या उद्योग में लगी हुई हो जो केन्द्र द्वारा स्थापित हो, क्षेत्रीय या राज्य अधिनियम या कम्पनी अधिनियम, 1956 की धारा 617 में यथा-परिभाषित 'सरकारी कम्पनी' की सेवा या वेतन में हो।" स्पष्टतया जैसा कि निगमित किया गया है, खंड 12 में विधान सभा सदस्य समाविष्ट नहीं है और खंड 9 जैसाकि यह तब तक था, उसे समाविष्ट नहीं कर सका जैसाकि अब 1958 के अधिनियम सं० 2 द्वारा पुर:स्थापित खंड 12 में पता चलता है जिसे खंड 12 (ख) के रूप में पुन: निगमित किया गया है और किसी का भी यह पक्षकथन नहीं है कि खंड 12 (ख) में विधान सभा सदस्य सम्मिलित है।

38. विकास के अगले चरण पर अब ध्यान दिया जाता है। जून, 1962 में गृह मंत्रालय की अनुदान मांगों पर चर्चा में भाग लेते समय लोक सभा के कुछ सदस्यों ने विनिर्दिष्ट रूप से प्रशासन में भ्रष्टाचार के खतरे को बढ़ने का निर्देश किया। बहस का उत्तर देते हुए उस समय के गृह मंत्री ने यह सुझाव दिया था कि संसद् के कुछ सदस्य और यदि संभव हो कुछ सार्वजनिक व्यक्ति अधिकारियों के साथ बैठें जिससे कि भ्रष्टाचार की समस्या का पुनर्विलोकन किया जा सके और कुछ सुझाव दिए जा सकें। इस घोषणा के

अनुसरण में लोक समाज सदस्य श्री के० संथानम की अध्यक्षता में एक समिति 9 विनिर्दिष्ट शर्तों का निर्देश करते हुए नियुक्त की गई थी जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह बातें सम्मिलित थीं। "उन परिवर्तनों के बारे में सुझाव देना जो रिश्वत, भ्रष्टाचार और दांडिक कदाचार के मामलों के जल्दी विचारण को संक्षिप्त करे और विधि को अन्यथा अधिक प्रभावी बनाए।" इस समिति ने 31 मार्च 1964 को अपनी रिपोर्ट पेश की। इसमें ऊपर उद्धृत निर्देश की चौथी शर्त की परीक्षा करते समय समिति ने अपनी रिपोर्ट की धारा 7 में भारतीय दंड संहिता में प्रस्तावित संशोधन के प्रश्न पर विचार किया। समिति ने धारा 21 में "लोक सेवक" की परिभाषा पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। पैरा 7·6. प्रस्तुत प्रयोजन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, यह निम्न प्रकार पठित है—

> "7·6. धारा 21 में "लोक सेवक" की परिभाषा की गई है। लोक सेवकों की 12 श्रेणियों का उल्लेख किया गया है, किन्तु विद्यमान परिभाषा के बढ़ाए जाने की अपेक्षा है। 9 वीं श्रेणी में अधिकारियों की एक विस्तृत किस्म की परिभाषा की गई है जो राज्य के धनिक हितों के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के कर्तव्यों को करने से प्रभारित किया गया है। इस श्रेणी का अन्तिम वाक्य अर्थात् 'प्रत्येक अधिकारी जो सरकार की सेवा या वेतन में हो या किसी लोक कर्तव्य के पालन के लिए सरकार से फीस या कमीशन के रूप में पारिश्रमिक पाता हो' एक सामान्य परिभाषा के रूप में रखा जाना चाहिए। 'सरकार' शब्द के पश्चात् 'स्थानीय प्राधिकारी', 'सार्वजनिक निगम' या 'सरकारी कम्पनी जोड़ा जाना चाहिए।' 'किसी व्यापार या वाणिज्य में लगा हुआ' शब्दों को भी धारा 21 के 12 वें खंड से लुप्त किया जाना चाहिए चूंकि इन शब्दों का निर्बन्धित प्रभाव है। इस बात को भी स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि सभी मंत्री, राज्य मंत्री, उप-मंत्री, संसदीय सचिव और स्थानीय प्राधिकरणों के सभी सदस्य 'लोक सेवक' परिभाषा के अधीन आते हैं। एक और श्रेणी जोड़ी जानी चाहिए जिसमें ऐसे सभी व्यक्ति सम्मिलित होने चाहिएं जो किसी संघ या राज्य विधि के अधीन तत्समय प्रवृत्त शपथ-पत्र संबंधी कर्तव्यों का निर्वहन करते हों। हम 'लोक सेवक' शब्द की परिभाषा के भीतर निम्नलिखित श्रेणियों को भी सम्मिलित करना आवश्यक समझते हैं—

रजिस्ट्रीकृत सहकारी समिति की प्रबंध समिति के अध्यक्ष, मंत्री और सभी सदस्य।

शैक्षणिक, सामाजिक, धार्मिक और अन्य संस्थानों के पदाधिकारी चाहे वे किसी भी प्रकार से स्थापित किया गया हो जो केन्द्रीय या राज्य सरकारों से किसी भी रूप में सहायता प्राप्त करते हों।"

इस सिफारिश के परिणामस्वरूप धारा 21 के खंड 3, 9 और 12 में तीन महत्त्वपूर्ण संशोधन किए गए। असंशोधित खंड और 1964 में संशोधन के प्रभाव को स्पष्ट विरोध के रूप में लाया जाना चाहिए जिससे कि किए गए परिवर्तन और नियोजित भाषा पर इसके प्रभाव का अधिमूल्यन किया जा सके।

खंड जैसे कि वे 1964 के संशोधन से पूर्व थे	1964 के संशोधन द्वारा संशोधित
तीसरा—प्रत्येक न्यायाधीश	हर न्यायाधीश जिसके अन्तर्गत ऐसा कोई भी व्यक्ति आता है जो किन्हीं न्यायनिर्णायिक कृत्यों का चाहे स्वयं या व्यक्तियों के किसी निकाय के सदस्य के रूप में निर्वहन करने के लिए विधि द्वारा सशक्त किया गया हो।
नवां—प्रत्येक अधिकारी जिसका ऐसे आफिसर के नाते यह कर्तव्य हो कि वह सरकार की ओर से किसी संपत्ति को ग्रहण करे, प्राप्त करे, रखे या व्यय करे या सरकार की ओर से कोई सर्वेक्षण, निर्धारण या संविदा करे या किसी राजस्व आदेशिका का निष्पादन करे या सरकार के धन सम्बन्धी हितों पर प्रभाव डालने वाले किसी मामले में अन्वेषण या रिपोर्ट करे या सरकार के धन सम्बन्धी हितों से सम्बन्धित किसी दस्तावेज को बनाए, अधिप्रमाणित करे या रखे या सरकार के	नवां—हर आफिसर जिसका ऐसे आफिसर के नाते यह कर्तव्य हो कि वह सरकार की ओर से किसी संपत्ति को ग्रहण करे, प्राप्त करे, रखे या व्यय करे या सरकार की ओर से कोई सर्वेक्षण, निर्धारण या संविदा करे, या किसी राजस्व आदेशिका का निष्पादन करे या सरकार के धन सम्बन्धी हितों पर प्रभाव डालने वाले किसी मामले में अन्वेषण या रिपोर्ट करे या सरकार के धन सम्बन्धी हितों से सम्बन्धित किसी दस्तावेज को बनाए, अधिप्रमाणित करे या रखे या

धन सम्बन्धी हितों की संरक्षा के लिए किसी विधि के व्यतिक्रम को रोके और सरकार की सेवा या वेतन में या किन्हीं लोक कर्तव्यों के पालन के लिए सरकार से फीस या कमीशन के रूप में पारिश्रमिक पाने वाला प्रत्येक अधिकारी

सरकार के धन सम्बन्धी हितों की संरक्षा के लिए किसी विधि के व्यतिक्रम को रोके।

(अधोरेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)

बारहवां—प्रत्येक अधिकारी जो स्थानीय प्राधिकारी की अथवा केन्द्र, प्रांत या राज्य के अधिनियम के द्वारा या अधीन स्थापित निगम की अथवा कम्पनी अधिनियम, 1956 की धारा 617 में यथा परिभाषित सरकारी कम्पनी की सेवा या वेतन में हो।

बारहवां—हर व्यक्ति जो (क) सरकार की सेवा या वेतन में हो, या किसी लोक कर्तव्य के पालन के लिए सरकार से फीस या कमीशन के रूप में पारिश्रमिक पाता हो, (ख) स्थानीय प्राधिकारी को, अथवा केन्द्र, प्रांत या राज्य के अधिनियम के द्वारा या अधीन स्थापित निगम की अथवा कम्पनी अधिनियम, 1956 की धारा 617 में यथा परिभाषित सरकारी कम्पनी की सेवा या वेतन में हो।

39. 9 और 12 दो खंडों की मात्र तुलना 1964 के संशोधन अधिनियम 40 द्वारा लाए गए परिवर्तन प्रदर्शित करेगी। असंशोधित खंड (9) में अन्तिम भाग (रेखांकित भाग) "सरकार की सेवा या वेतन में या किसी लोक कर्तव्य के पालन के लिए सरकार से फीस या कमीशन के रूप में पारिश्रमिक पाने वाला हर अधिकारी" को नौवें खंड से पृथक् कर दिया गया है और स्वतन्त्र खंड (12) (क) के रूप में निगमित कर दिया गया है। मूल खंड (12) लुप्त कर दिया गया था और उसे अल्प उपांतरणों के साथ खंड (12) (ख) के रूप में पुनः अधिनियमित कर दिया गया है विकास का यह इतिहास हाल में उल्लिखित किए जाने वाले प्रत्येक बाध्यकर तर्क के लिए ध्यान देने योग्य है।

40. संथानम समिति के निर्देश की शर्तों ने प्रशासन में भ्रष्टाचार की बढ़ती हुई आशंका की परीक्षा करने के लिए ध्यान आकर्षित किया। समिति ने

अपने ध्यान को उन पदों पर केन्द्रित किया। जो विस्तृत, विवेकाधिकारी शक्ति का अधिभोग कर रहे थे और इसमें मंत्रिमण्डल और राज्य दोनों मंत्री, उपमन्त्री और संसदीय सचिव सम्मिलित हैं। विधान सभा सदस्यों के बारे में यह विचार नहीं किया गया था कि वे राजनैतिक पद धारण किए हुए थे जिससे शक्ति का प्रयोग करने में समर्थ हो सकें। समिति ने भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 में "लोक सेवक" अभिव्यक्ति की परिभाषा के संशोधन की सिफारिश की जिससे कि केन्द्र और राज्य स्तर के सभी पदों के मंत्रियों और संसदीय सचिवों को "लोक सेवक" की परिभाषा में सम्मिलित किया जा सके। समिति ने इस बात की सिफारिश नहीं की थी कि प्रस्तावित संशोधन को विधान सभा सदस्यों तक विस्तारित किया जाए। समिति ने पृथकत: रिपोर्ट की धारा 11 के पैरा 11·4 में विधान सभा सदस्यों के बारे में चर्चा की थी। यह कहने के पश्चात् कि "मंत्रियों के पश्चात् संसद् सदस्यों और राज्य में विधानमंडलों के सदस्यों की सत्यनिष्ठा भ्रष्टाचार के विरुद्ध अनुकूल सामाजिक वातावरण सृजित करने में एक महान तथ्य होगा यह बात वांछनीय है कि विधायकों के लिए आचार संहिता जिसमें यह और अन्य सिद्धान्त सन्निविष्ट हों संसद और विधानमंडलों के प्रतिनिधियों की एक विशेष समिति द्वारा विरचित किए जाने चाहिएं जिन्हें अध्यक्षों और सभापतियों द्वारा नामित किया जाए। इस संहिता को संसद और विधान-मंडलों के संकल्पों द्वारा औपचारित रूप से अनुमोदित किया जाना चाहिए और संहिता का कोई व्यतिक्रम विशेषाधिकार का भंग समझा जाना चाहिए जिसकी जांच विशेषाधिकार समिति द्वारा की जानी चाहिए और यदि भंग साबित हो जाता है तो सदस्यता समाप्ति सहित कार्यवाही की जानी चाहिए। आचार संहिता को प्रवृत्त करने के लिए आवश्यक मंजूरी भी अस्तित्व में लाई जानी चाहिए।

41. सरकार ने बहुत सुक्षमता से रिपोर्ट की जांच की। समिति की सिफारिशों के परिणामस्वरूप जिन्हें सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया था भ्रष्टाचार विरोधी विधि (संशोधन) विधेयक, 1964 (1964 का विधेयक संख्या 67) संसद में पुरःस्थापित किया गया। विधेयक में ध्यान देने योग्य मुख्य बातें ये हैं कि धारा 21 का खंड (3) को अल्प संरचनात्मक परिवर्तन के साथ जैसाकि सिफारिश की गयी थी संशोधित किए जाने का प्रस्ताव किया गया। धारा 21 के खंड (9) को जैसाकि सिफारिश की गयी थी पृथक् कर दिया गया और इसके अन्तिम भाग "सरकार की सेवा में या के वेतन में प्रत्येक अधिकारी या किसी लोक कर्त्तव्य को करने के लिए फीस या कमीशन द्वारा

पारिश्रमिक प्राप्त करने वाला प्रत्येक अधिकारी" को अलग कर लिया गया और उसे खंड (12) (क) के रूप में पुनः संख्यांकित किया गया। इससे यह विवक्षित है कि विधान सभा सदस्य को धारा 21 में खंडों की रूपरेखा के भीतर लाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया जिससे कि उसे लोक सेवक बनाया जा सके। मंत्री की स्थिति कुछ अस्थिर थी किन्तु लोक सभा में विधेयक पर बहस के दौरान एक स्पष्ट तस्वीर उभरी थी। प्रभारी मन्त्री श्री हाथी ने विधेयक का मार्ग दर्शन करते समय 7 नवम्बर, 1964 को अन्य बातों के साथ-साथ यह कहा कि वह उन सिफारिशों पर चर्चा नहीं करेंगे जिन्हें सरकार द्वारा स्वीकार नहीं किया गया था किन्तु उन्हें बाद में स्पष्ट करेंगे यदि उस बारे में कोई प्रश्न उठाया जाता है तो [देखिए लोक सभा डिबेट (तृतीय सीरीज) भाग 35, कालम 245]। बहस का उत्तर देते हुए श्री हाथी ने यह कहा कि आचार संहिता मन्त्रियों के लिए पहले ही बनायी जा चुकी है क्योंकि सभी पदों के मन्त्रियों को और संसदीय सचिवों को "लोक सेवक" की परिभाषा में सम्मिलित करने के लिए संथानम समिति की सिफारिश सरकार द्वारा स्वीकार नहीं की गयी थी। किन्तु एक रुचिकर आपत्ति इस कथन के बारे में की गयी थी जिसको कि हम हाल में खंडन करेंगे। उन्होंने आगे यह कहा "लोक सेवक" परिभाषा के बारे में विनिर्दिष्ट सिफारिशें जिसमें मन्त्रियों को सम्मिलित करना था स्वीकार नहीं की गयी थी और उसे विधेयक में सम्मिलित कर लिया गया था क्योंकि मन्त्री मात्र लोक सेवक ही नहीं है अपितु उनका लोगों के प्रति नैतिक और वृहत दायित्व हैं। बाद में बहस में इस बात को स्वीकार किया गया कि मंत्री को पहले ही "लोक सेवक" की परिभाषा में सम्मिलित कर लिया गया है जो विशव बहादुर के मामले में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय के दृष्टिकोण से प्रस्तावित संशोधन से पूर्व कर लिया गया था जिसमें कि मंत्री को लोक सेवक माना गया था। आगे यह कहा गया था कि इस निर्णय के दृष्टिकोण से सरकार को यह परामर्श दिया गया था कि सभी पदों के मंत्रियों और संसदीय सचिवों को विनिर्दिष्ट रूप से सम्मिलित करने के लिए संथानम समिति की सिफारिश अनावश्यक थी। [देखिए लोक सभा डिबेट, (तृतीय सीरीज) भाग 35, कालम 729, 731]। निष्कर्ष कुछ भी रहा हो इस बात से नहीं बचा जा सकता कि सन् 1964 तक किसी भी प्रकार से विधान सभा सदस्य धारा 21 में "लोक सेवक" की परिभाषा में सम्मिलित नहीं था। और संथानम समिति ने धारा 21 में "लोक सेवक" की परिभाषा में उसे सम्मिलित करने की सिफारिश नहीं की थी।

42. 1964 का विधेयक संख्या 47, 1964 के अधिनियम संख्या 40 के रूप में अधिनियमित किया गया था। अब यह 1964 के अधिनियम संख्या 40 के अधिनियमन से पूर्व विधान सभा सदस्य धारा 21 में लोक सेवक के रूप में सम्मिलित नहीं था तो अगला प्रश्न यह है; क्या संशोधन उसकी स्थिति में कोई प्रभेद करता है ? संशोधन वस्तुतः विधि को अपरिवर्तित रखता है। खंड 9 का अन्तिम भाग खंड 12 (क) के रूप में अधिनियमित किया गया था। यदि विधान सभा सदस्य इसको संशोधन और विच्छेदन से पूर्व खंड (9) में सम्मिलित नहीं था तो इससे विधि के अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता यदि खंड (9) के एक भाग को खंड 12 और खंड (12) (क) के निर्वचन में कोई परिवर्तन नहीं लाता। इस सम्बन्ध में **जी० ए० मोन्टेरियो** बनाम **दि स्टेट ऑफ अजमेर**[1] के मामले को जिसे **दि स्टेट ऑफ अजमेर** बनाम **शिवजी लाल**[2] के मामले में अनुसरित और अनुमोदित किया गया था को निर्दिष्ट करना लाभदायक होगा जिन दोनों में खंड (9) जैसा कि यह संशोधन से पूर्व था का अर्थान्वयन किया गया था। पहले उल्लिखित मामले में अभियुक्त अजमेर में रेलवे यान कर्मशाला में चूड़ीकाट था उसे सरकार के वेतन में अधिकारी समझा गया था जो धारा 21 खंड (9) के अन्तिम भाग में जैसा कि वह तब था सम्मिलित था। द्वितीय मामले में अभियुक्त फुलेरा में एक रेलवे स्कूल में अध्यापक था। उसकी यह दलील थी कि वह लोक सेवक नहीं था और उसकी दलील का विद्वान् न्यायिक आयुक्त ने समर्थन नहीं किया था। किन्तु इस निष्कर्ष पर पहुंचने में ऐसा प्रतीत होता है कि सन् 1964 में उसके संशोधन से पूर्व खंड (9) के अन्तिम भाग की उपेक्षा कर दी गयी थी। राज्य द्वारा अपील में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अभियुक्त का मामला खंड (9) के अन्तिम भाग के भीतर आयेगा क्योंकि अभियुक्त ने या तो सरकार की सेवा में या उसके वेतन में होने की दोनों शर्तें पूरी कर ली थीं और वह लोक कर्तव्य के करने से न्यस्त था। इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि संशोधन के पश्चात् खंड (12) (क) में आने वाले "सरकार द्वारा" अन्तिम 3 शब्द खंड (9) के अन्तिम भाग में नहीं थे। प्रश्न यह था कि क्या "सरकार द्वारा" शब्दों के जोड़ने से खंड 9 के अन्तिम भाग के निर्वचन में कोई अन्तर हुआ था जो, सारतः खंड (12) (क) के रूप में बिना अधिनियमित किया गया था। गुजरात उच्च न्यायालय ने **मानशंकर प्रभा शंकर द्विवेदी और एक अन्य** बनाम

---

[1] [1956] एस० सी० आर० 682.

[2] [1959] सप्लीमेंट 2 एस० सी० आर० 739.

गुजरात राज्य[1] के मामले में संशोधन के इतिहास का पता किया था कि सरकार द्वारा संदाय खंड (9) में स्पष्ट था यद्यपि "सरकार द्वारा" शब्द उसमें नहीं थे और खंड (12) (क) में खंड (9) के अन्तिम भाग को (12) (क) के रूप में पुनः अधिनियमन के पश्चात् जोड़ा गया था। **गुजरात राज्य** बनाम **मान शंकर प्रभा शंकर द्विवेदी**[2] के मामले में गुजरात उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील में इस न्यायालय के विनिश्चय से यह बात स्पष्ट हो गयी की अभियुक्त को उस मामले में भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161 के अधीन और 1947 के अधिनियम की धारा 5 (2) के अधीन अपराधों को करने के लिए आरोपित किया गया था। अभिकथित तथ्य यह थे कि अभियुक्त प्रत्यर्थी जो इस न्यायालय के समक्ष था बी० एस० सी० प्रथम वर्ष परीक्षा के लिए विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त परीक्षक था। उसके बारे में यह अभिकथन किया गया था कि उसने फिजिक्स की व्यवहारिक परीक्षा में उन नम्बरों से अधिक नम्बर देकर जिनका कि वह पात्र था प्रत्यर्थी को पक्ष दिखाने के लिए वैध पारिश्रमिक की अपेक्षा 500 रुपए का पारितोषण प्राप्त किया था। अपील में उच्च न्यायालय ने 1964 के अधिनियम संख्या 40 द्वारा उनके संशोधन से पूर्व धारा 21 के खंड 8 और खंड (12) पर ध्यान देने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि खंड (9) को लागू करने के लिए व्यक्ति ऐसा अधिकारी होना चाहिए "जो सरकार की सेवा या वेतन में हो या किसी लोक कर्तव्य को करने के लिए फीस या कमीशन द्वारा पारिश्रमिक पाता हो" और "ऐसा वेतन या पारिश्रमिक या कमीशन सरकार से होना चाहिए।" आगे यह अभिनिर्धारित किया गया था कि नवें खंड का सम्पूर्ण संदर्भ जैसाकि यह 1964 के संशोधन से पूर्व था यह उपदर्शित करता है कि सरकार से सम्बन्ध या तो पारिश्रमिक के संदाय के सम्बन्ध में या लोक कर्तव्य के करने के सम्बन्ध में आवश्यक था। फिर यह अभिनिर्धारित किया गया था कि "अधिकारी" शब्द का प्रयोग जो अन्तिम भाग से अव्यवहित और शब्दों के संदर्भ में पढ़ा जाता है यह उपदर्शित करता है कि अनुध्यात पारिश्रमिक सरकार द्वारा पारिश्रमिक था। उच्च न्यायालय ने आगे यह अभिनिर्धारित किया कि सन् 1964 में किया गया संशोधन और विशेष रूप से 12वें खंड के उप-खंड (क) में "सरकार द्वारा" शब्दों को जोड़ना नवें खंड के तात्विक भाग के विधायी निर्वचन को दर्शित करता है यह विचाराधीन संशोधन से पूर्व था। इन मामलों को उद्धृत करने के पश्चात् जिनसे उच्च न्यायालय प्रभावित हुआ था इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त

---

[1] ए० आई० आर० 1970 गुजरात 97.

[2] [1973] 1 एस० सी० आर० 313.

किया कि उच्च न्यायालय के तर्क में कोई कमी नहीं थी। यह पता चलेगा कि सरकार द्वारा संदाय खंड (9) में सरकार द्वारा अभिव्यक्ति के प्रयोग के बिना विवक्षित था। "सरकार द्वारा" शब्द संशोधित खंड (12) (क) में जोड़े गए हैं। स्पष्ट रूप से इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। इसलिए आवश्यक रूप से इससे यह पता चलता है कि खंड (9) और (12) का संशोधन उनके संशोधन से पूर्व और संशोधन के समय से दो खंडों के सीमा क्षेत्र और अर्थान्वयन में कोई परिवर्तन नहीं लाता। यदि ऐसी बात है तो आवश्यक अनुमान के रूप में इसका यह अर्थ होगा कि यदि विधान सभा सदस्य 1964 के अधिनियम संख्या 40 से पूर्व अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक नहीं था अधिनियम के होने के समय से विधिक प्रभाव और लोक सेवक अभिव्यक्ति का सीमा क्षेत्र अपरिवर्तित रहता है और इसलिए विधान सभा सदस्य खण्ड (12) (क) में समाविष्ट "लोक सेवक" नहीं है। इस प्रकार से जैसा कि पता चला है कि धारा 21 के इतिहास और प्रगति को देखने से यह बात स्पष्ट है कि सन् 1964 तक विधान सभा सदस्य को "लोक सेवक" अभिव्यक्ति के भीतर बोद्धगम्य रूप से समाविष्ट नहीं किया जा सकता था और विधि में संशोधन के समय से कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके प्रतिकूल संथानम समिति की सिफारिश जिसने मंत्रियों और संसदीय सचिवों को सम्मिलित करने की सिफारिश की थी किन्तु विधान सभा सदस्य सदस्यों को नहीं, ने पृथक रूप से विधान सभा सदस्यों के लिए पृथकतः भ्रष्टाचार की आशंका से उन्हें बचाने के लिए एक आचार संहिता की सिफारिश की थी जो स्पष्ट रूप से और सही रूप से यह दर्शाती है कि सन् 1964 तक विधान सभा सदस्य भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 में "लोक सेवक" अभिव्यक्ति में समाविष्ट नहीं था और सन् 1964 के संशोधन अधिनियम संख्या 40 के द्वारा संशोधन इस बारे में विधान सभा सदस्य की स्थिति के सम्बन्ध में तनिक मात्र भी परिवर्तन नहीं किया है। इसलिए किसी अन्य बात के अतिरिक्त धारा 21 के ऐतिहासिक विकास पर जिसे अर्थान्वयन की बाहरी सहायता के रूप में अंगीकृत किया गया है निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि विधान सभा सदस्य भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 के खण्डों में से किसी में भी अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत "लोक सेवक" न तो था और न है।

43. इस बात को मानते हुए कि किसी कानून के अर्थान्वयन के सुस्वीकृत सिद्धान्त के अनुसार मात्र धारा के ऐतिहासिक विकास द्वारा धारा 21 (12) (क) का अर्थान्वयन करना विधिमान्य रूप से ठीक और सही नहीं

होगा और संवैधानिक रूप से विधिमान्य दृष्टिकोण धारा में नियोजित भाषा को देखना होगा और उसके सही अर्थान्वयन पर इस बात को अभिनिश्चित करना होगा कि क्या विधान सभा सदस्य उस उपखण्ड में अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक है। विद्वान् विशेष न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि विधान सभा सदस्य लोक सेवक है क्योंकि वह या तो सरकार के वेतन में है या सरकार द्वारा किसी सार्वजनिक कार्य के करने के लिए फीस द्वारा उसे पारिश्रमिक मिलता है।

44. कोई व्यक्ति खण्ड 12 (क) के अधीन लोक सेवक होगा यदि (i) वह सरकार की सेवा में है, या (ii) सरकार के वेतन में है, या (iii) उसे सरकार द्वारा लोक कार्य करने के लिए फीस या कमीशन के द्वारा पारिश्रमिक मिलता है।

45. परिवादी अपीलार्थी की ओर से यह दलील दी गई थी कि इस आधार पर किसी व्यक्ति को लोक सेवक बनाने के लिए कि वह सरकार की सेवा में है स्वामी सेवक का सम्बन्ध होना चाहिए या आदेश और पालन का सम्बन्ध होना चाहिए और यदि ये तत्व नहीं हैं तो चाहे कोई व्यक्ति सरकार के वेतन में हो वह लोक सेवक नहीं हो सकता। प्रत्यर्थी की ओर से इस बात का प्रख्यान करते हुए इसका विरोध किया गया कि स्वामी सेवक सम्बन्ध या आदेश या पालन का सम्बन्ध की धारणा खण्ड (12) (क) के प्रथम भाग में सन्निविष्ट है जिसमें इस बात का उपबन्ध है कि सरकार की सेवा में कोई व्यक्ति लोक सेवक होगा। यह दलील दी गयी थी कि चाहे खण्ड के दूसरे भाग में समाविष्ट होने के लिए अर्थात् कोई व्यक्ति लोक सेवक होगा यदि वह सरकार के वेतन में है स्वामी सेवक या आदेश का पालन—सम्बन्ध होना चाहिए। विधानमण्डल पुनरुक्ति का दोषी होगा और (विकल्पात्मक "या" सन्दर्भ में जिसमें कि वह खण्ड (12) (क) में पाया गया है विकल्पात्मक प्रतीत होता है। इस प्रकार से पढ़े जाने पर खण्ड 12 (क) में तीन स्वतन्त्र श्रेणियां समाविष्ट हैं और यदि कोई व्यक्ति उनमें से किसी में आता है तो वह लोक सेवक होगा। तीन श्रेणियां ये हैं जिन्हें कि विद्वान् विशेष न्यायाधीश ने माना है (i) सरकार की सेवा में कोई व्यक्ति (ii) सरकार के वेतन में कोई व्यक्ति और (iii) सरकार द्वारा किसी सार्वजनिक कार्य करने के लिए फीस या कमीशन द्वारा पारिश्रमिक पाने वाला व्यक्ति। कोई व्यक्ति सरकार की सेवा में हो सकता है ओर उसके लिए उसे संदाय किया जा सकता है। कोई व्यक्ति सरकार की सेवा में स्वामी सेवक या आदेश-पालन सम्बन्ध कोई प्रकट करने

वाले भाव में सरकार की सेवा में हुए बिना सरकार के वेतन में हो सकता है। "या" अभिव्यक्ति का प्रयोग हमें विकल्पात्मक प्रतीत होता है जैसा कि प्रत्यर्थी की ओर से दलील दी गई है। सन्दर्भ पर निर्भर करते हुए "या" को "और" पढ़ा जा सकता है किन्तु न्यायालय तब तक ऐसा नहीं करेगा जब तक कि वह इसके लिए बाध्य न हो क्योंकि "या" से सामान्यतः "सरकार" अभिप्रेत नहीं है और "और" सामान्यतः इसका अभिप्राय: "या" नहीं है। देखिए **ग्रीन** बनाम **प्रीमियर ग्लीनहर्नवे स्लेट कम्पनी लिमिटेड**[1], **बाबू मनमोहन दास और अन्य** बनाम **विष्णुदास**[2], **कामता प्रसाद अग्रवाल** बनाम **एक्जीक्यूटिव इंजीनियर, वल्लभगढ़ और एक अन्य**[3] और कई अन्य निर्णय जिन्हें हम यहां पर प्रगणित करना अनावश्यक समझते हैं।

46. एक बार जब इस बात को स्वीकार कर लिया जाता है कि "सरकार के वेतन में कोई व्यक्ति" "सरकार की सेवा में कोई व्यक्ति" की अपेक्षा लोक सेवक विनिर्दिष्ट और स्वतन्त्र श्रेणी को सूचित करता है और "सरकार के वेतन में" अभिव्यक्ति में दाता के रूप में सरकार और आदाता के रूप में लोक सेवक के बीच स्वामी सेवक या आदेश का पालन का सम्बन्ध निहित नहीं है। धारा का कोई भाग व्यर्थ नहीं हुआ है। प्रत्येक भाग का अपना अर्थान्वयन करना होगा इसलिए हम उन विनिश्चयों को विनिर्दिष्ट करना अनावश्यक समझते हैं जो प्रत्यर्थी की ओर से उद्धृत किए गए हैं कि ऐसी स्थिति में स्वीकार किए जाने के लिए अर्थान्वयन का सही सिद्धान्त यह जिसे, यदि संभव हो कानून में प्रयुक्त शब्दों को प्रभावी किया जाना चाहिए क्योंकि विधानमण्डल के बारे में यह नहीं समझा जाता कि वह अपने शब्दों को व्यर्थ करेगी या बेकार में कोई बात कहेगी।

47. तब "सरकार के वेतन में" अभिव्यक्ति का सही निर्वचन किया है। दूसरे शब्दों में क्या विधान सभा सदस्य "सरकार के वेतन में" व्यक्ति है जिससे कि वह धारा 21 (12) (क) में अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक हो सके। ये अभिव्यक्तियां जिनका अर्थान्वयन करना है (i) "वेतन में," "सरकार" हैं।

---

[1] [1928] 1 के० बी० 561.

[2] [1967] 1 एस० सी० आर० 836.

[3] [1974] 2 एस० सी० आर० 827.

48. संविधान के अनुच्छेद 195 में इस बात का उपबन्ध है कि "राज्य की विधान सभा, विधान परिषद् के सदस्यों को ऐसे वेतन और भत्तों जिन्हें उस राज्य का विधानमण्डल, विधि द्वारा, समय-समय पर निर्धारित करें, तथा जब तक तत्विषयक उपबन्ध इस प्रकार नहीं बनाया जाता तब तक ऐसे वेतन और भत्तों के, ऐसी दरों से और ऐसी शर्तों पर, जिसे कि इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक हैं तत्स्थानी विधान सभा के सदस्यों के विषय में लागू होते हैं पाने का हक होगा। इस शक्ति से लैश होकर महाराष्ट्र राज्य के विधानमण्डल ने "महाराष्ट्र विधान सभा सदस्यों" के वेतन और भत्ते अधिनियम, 1956 (1956 का बाम्बे अधिनियम संख्या 49) अधिनियमित किया। धारा 3 (1) में इस बात का उपबन्ध है कि उसके पद की सम्पूर्ण अवधि के दौरान प्रत्येक सदस्य को 450 रुपये प्रतिमाह की दर पर वेतन का संदाय किया जाएगा और उपधारा 2 में इस बात का उपबन्ध है कि प्रत्येक सदस्य को उसके पद की सम्पूर्ण अवधि के दौरान सभी मामलों के लिए समेकित भत्ते के रूप में 400 रुपये की रकम प्रतिमाह का संदाय किया जाएगा जिनका विनिर्दिष्ट रूप से अधिनियम के उपबन्धों के अधीन या द्वारा उपबन्ध नहीं किया गया है। धारा 4 में सदस्यों को संदत्त किए जाने वाले तनिक भत्तों का उपबन्ध है। धारा 5 में सदस्यों को यात्रा भत्ते के संदाय का उपबन्ध है। धारा 5 क ग में सदस्य द्वारा रेलवे और स्टीमर द्वारा उसमें विहित शर्तों के अधीन नि:शुल्क यात्रा का उपबन्ध है। सदस्य अधिनियम की विभिन्न धाराओं में यथा विनिर्दिष्ट कुछ अन्य भत्तों के भी पात्र हैं। महाराष्ट्र विधान सभा सदस्य पेंशन अधिनियम, 1976, 1 अप्रैल, 1981 से ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को 300 रुपये प्रतिमाह की दर पर पेंशन के संदाय का उपबन्ध करता है जिन्होंने राज्य विधान सभा सदस्य के रूप में धारा में विहित अन्य शर्तों के अधीन 5 वर्षों की अवधि तक सेवा की है। इसी प्रकार का एक अधिनियम भी हैं जिसमें महाराष्ट्र राज्य के मंत्रियों के वेतन और भत्तों के लिए उपबन्ध किया गया है।

49. निस्संदेह विधान सभा सदस्य की अपनी हैसियत में वेतन और भत्ते प्राप्त करता है। क्या यह उसे "सरकार के वेतन में" व्यक्ति बनाता है? "हमारा ध्यान विभिन्न शब्दकोषों में वेतन" शब्द के अर्थ की ओर और **एम० करुणानिधि** बनाम **भारत संघ**[1] के विनिश्चय की ओर आकर्षित किया गया था। यहां पर विभिन्न शब्द कोषों में दिए गए वेतन शब्द के अर्थ को अभिनिश्चित करने के पश्चात् न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि "वेतन में"

[1] [1979] 3 एस० सी० आर० 254.

अभिव्यक्ति स्वामी सेवक के सम्बन्ध को सूचित नहीं करती। "वेतन" शब्द के स्वयं में विभिन्न अर्थ लिए जा सकते हैं और जब इस शब्द का प्रयोग "वेतन में" वाक्यांश में किया जाता है तो इसके इस बात की अपेक्षा विभिन्न अर्थ होने की सम्भावना है जो इसके हैं। शब्दकोषों में उपवर्णित विभिन्न प्रकार के अर्थों का निर्देश करने से पूर्व शब्दकोषों के अनिबन्धित निर्देश के विरुद्ध अपने आपको सूचित करना ठीक होगा। वास्तव में स्टैण्डर्ड शब्दकोष प्रत्येक शब्द के सम्बन्ध में इतने अर्थ देते हैं कि जिनमें यह शब्द या तो प्रयोग किया गया है या विभिन्न सन्दर्भों और सम्बन्धों में इसका प्रयोग किए जाने की सम्भावना है जबकि उस अर्थ का पता करने के लिए शब्दकोषों का निर्देश करना अनुज्ञय है जिसमें कि शब्द प्रयोग किया जाना है या सामान्य भाषा में समझे जाने वाला है। अर्थान्वयन के जाने-माने सिद्धान्त की एक क्षण के लिए भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि शब्दों का और अभिव्यक्तियों का अर्थ जो कानून में प्रयोग किए गए हैं सामान्यतः उस संदर्भ से बदलते रहते हैं जिनमें कि वे प्रयोग किए जाते हैं। **उप मुख्य नियंत्रक आयात और निर्यात, नई दिल्ली** बनाम **के० टी० कौशल राम और अन्य**[1] के मामले में इस न्यायालय ने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया—

> "किसी कानून या संविदा को व्युत्पत्ति-विषयक विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा विभाजित करके तथा कोषकारों द्वारा की गई विशिष्ट परिभाषा को प्रत्येक शब्द पर लादने के लिए शब्दों के सन्दर्भ में उन्हें अलग करने के बाद उनका अर्थान्वयन करना और फिर उन परिभाषाओं के आधार पर उस लिखत की पुनः संरचना करना सदैव खतरे से खाली नहीं होता है। यह बात कि किसी विशिष्ट लिखत में शब्दों और पदों को कौन-सा विशिष्ट अर्थ दिया जाना चाहिए, सन्दर्भ, विषय-वस्तु की प्रकृति, लेखक के प्रयोजन का आशय, और उनको प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य के आधार पर एक या दूसरा अनुज्ञेय अर्थ देने के प्रभाव से प्रायः निकाला जाता है। जो कुछ भी हो शब्दों का उपयोग वक्ता या लेखक के विचार का आदान-प्रदान करने का मात्र माध्यम होता है और इसी कारण से शब्दों का अर्थान्वयन स्वाभाविक रूप से इस प्रकार से करना होता है जिससे कि वह उस विचार से मेल खा जाए जो कि सम्पूर्ण सन्दर्भ पर विचार करने से उद्भूत होता है। प्रत्येक शब्द केवल सम्प्रतीक होता है जो कि एक या अनेक वस्तुओं के

---

[1] [1971] 2 एस० सी० आर० 507.

लिए हो सकता है। वह सन्दर्भ, जिसमें अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न अर्थ का बोध कराने वाले शब्दों का उपयोग किया जाता है, ऐसे निश्चित अर्थ का अवधारण करने में महत्वपूर्ण होता है, जो कि उस संदर्भ में मेल खा जाता है जैसा कि लेखक का आदान-प्रदान करने का आशय होता है।"

स्टैट बैंक ऑफ इंडिया बनाम **एन० सुन्दरामणि**[1] के मामले में न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने इस न्यायालय की ओर से बोलते हुए अपने अत्युत्कृष्ट लहजे में यह मत व्यक्त किया था कि "शब्दकोश कानूनी अर्थान्वयन के लिए निरंकुश नहीं है जहां कि विधि की अघातक मनोवृति कोई भिन्न अभिधान प्रस्तुत करती हो।" इस चेतावनी के साथ हम संक्षेप में "वेतन" और "वेतन में" अभिव्यक्ति के अर्थ को जो विभिन्न शब्दकोशों में दिया गया है, निर्दिष्ट करेंगे।

50. जहां तक "वेतन" अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है, इस न्यायालय की संविधान न्यायपीठ ने **करुणानिधि के मामले**[2] में विभिन्न शब्दकोशों को निर्दिष्ट किया और यह निष्कर्ष दिया कि सामान्यतया इस शब्द का अर्थ "वेतन, प्रतिकर, मजदूरी या धन की कोई रकम जो ऐसे किसी व्यक्ति को संदत्त की जाती है जिसे आदाता के वेतन में परिभाषित किया गया है।" अपीलार्थी की ओर से इस बात पर गंभीर आपत्ति की गई कि अर्थान्वयन का कोई सिद्धांत "वेतन" शब्द के अर्थ के विभिन्न रूपों को चुनने के लिए अनुज्ञात नहीं करता और "वेतन में" वाक्यांश को "वेतन" शब्द का समानार्थक नहीं समझा जा सकता। दूसरी ओर, यह प्रख्यापित किया गया था कि यह प्रश्न संविधान न्यायपीठ के इस मत द्वारा समाप्त कर दिया गया था कि "जहां तक खण्ड के इस द्वितीय भाग का 'सरकार के वेतन में' सम्बन्ध है इसका अर्थ अधिक विस्तृत आयाम है जिससे कि इसमें ऐसा लोक सेवक भी इसके विस्तार में सम्मिलित है जो अपने स्वामी से वेतन प्राप्त करने वाला नियमित नियोजिती न हो।" ऐसा प्रतीत होता है कि बोधगम्य रूप से ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो किसी अन्य व्यक्ति के वेतन में हो और फिर भी उनके बीच स्वामी-सेवक का सम्बन्ध न हो, न्यायालय ने विभिन्न शब्दकोशों में "वेतन में" वाक्यांश को दिए गए अर्थ को अभिनिश्चित नहीं किया। "वेतन में" वाक्यांश का सामान्यतया आशय नियोजन के तत्व का है या संदत्त नियोजन या नियोजित और नियोजक द्वारा संदाय है। कांसाइज आक्सफोर्ड डिक्शनरी, 7वां संस्करण, पृष्ठ 753 में "वेतन में" अभिव्यक्ति को दिया गया अर्थ के नियोजन में है। न्यू कालिन्स

[1] [1976] 3 एस० सी० आर० 160.
[2] [1979] 3 एस० सी० आर० 254.

कांसाइज इंगलिश डिक्शनरी, पृष्ठ 832 में "वेतन में" का अर्थ "संदत्त नियोजन में" से है। बेबस्टर न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी में "वेतन में" वाक्यांश का अर्थ द्वारा नियोजित या संदत्त है। अर्थों के इन सभी स्वरूपों का अवलम्ब लेते हुए यह दलील दी गई कि "वेतन में" वाक्यांश के अर्थ से आवश्यक रूप से स्वामी सेवक सम्बन्ध के तत्व का आशय नहीं है और इसकी अनुपस्थिति को स्वीकृति नहीं दी जा सकती। यह दलील दी गई थी कि चाहे "क" को "ख" द्वारा वेतन के रूप में किसी रकम का संदाय किया जाता है जब तक "ख" "क" का सेवक है यह नहीं कहा जा सकता कि "ख" "क" के वेतन में है। हमें इस दलील में कुछ बल दिखाई देता है तथापि "वेतन में" अभिव्यक्ति से यह स्पष्ट नहीं है कि दाता और आदाता के बीच स्वामी-सेवक का सम्बन्ध अस्तित्व में होना चाहिए। कोई व्यक्ति किसी दूसरे के नियोजन या सेवा में हुए बिना किसी अन्य व्यक्ति के वेतन में हो सकता है। हम इस दलील को स्वीकार करने के लिए प्रवृत्त नहीं हैं कि वेतन में इस सन्दर्भ में इस स्पष्ट कारण के लिए स्वामी सेवक सम्बन्ध को विवक्षित करे कि न्यायालय को उसके विन्यास में "के वेतन में" वाक्यांश का अर्थान्वयन करना होता है जहां कि यह "सरकार की सेवा में" अभिव्यक्ति से पूर्व आता है और उसके बाद "सरकार द्वारा किसी सार्वजनिक कार्य के करने के लिए फीस या कमीशन द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त करता है" अभिव्यक्ति आती है। विन्यास और सन्दर्भ किसी अभिव्यक्ति के सही अर्थ को अभिनिश्चित करने के लिए काफी सुसंगत है। पुनरुक्ति के आरोप से बचने के लिए खण्ड (12) (क) में "सरकार के वेतन में" वाक्यांश में ऐसी स्थिति समाविष्ट है कि कोई व्यक्ति सरकार के वेतन में हुए बिना या वेतन प्राप्त करने वाले व्यक्ति और आदाता के रूप में सरकार के बीच स्वामी-सेवक का सम्बन्ध हुए बिना सरकार के वेतन में हो सकता है।

51. तथापि यह दलील दी गई थी कि यह प्रश्न कि क्या "सरकार के वेतन में" कोई व्यक्ति तथ्यतः लोक सेवक है यह अभी निर्णीत विषय नहीं है और **करुणानिधि के मामले**[1] में संविधान न्यायपीठ के विनिश्चय द्वारा इसे समाप्त किया जा सकता है। उस मामले में "वेतन" अभिव्यक्ति के शब्दकोशीय अर्थ को उद्धृत करने से पूर्व संविधान न्यायपीठ ने न्यायाधिपति फजल अली के माध्यम से पृष्ठ 282 पर निम्न प्रकार मत व्यक्त किया था—

> "हमारी यह राय है कि जहां तक कि 'सरकार के वेतन' में द्वितीय भाग का सम्बन्ध है उसका विस्तृत आयाम दिखाई देता है

---

[1] [1979] 3 एस० सी० आर० 254.

जिससे कि इसके विस्तार के भीतर ऐसा लोक सेवक भी सम्मिलित है जो अपने स्वामी से वेतन प्राप्त करने वाला नियमित नियोजिती न हो।"

न्यायालय ने आगे यह मत व्यक्त किया कि "वेतन में अभिव्यक्ति इस बात को सूचित करती है कि व्यक्ति वेतन, प्रतिकर, मजदूरी या धन की कोई रकम प्राप्त कर रहा है। तथापि यह स्वयं में इस अनुमान पर नहीं ले जाता है कि स्वामी और सेवक का सम्बन्ध आवश्यक रूप से ऐसे सभी मामलों में अस्तित्व में हो जहां कि किसी व्यक्ति को वेतन का संदाय किया जाता है।" हमारी यह भी राय है कि "सरकार के वेतन में" वाक्यांश का आवश्यक रूप से स्वामी सेवक सम्बन्ध का आशय नहीं है। यह कहना पूर्णतया सम्भव है कि कोई व्यक्ति सरकार के वेतन में हो सकता है यदि उसे सरकार द्वारा उसे न्यस्त समनुदेशन के उन्मोचन के विचार में संदाय किया जाता है जिसमें उनके बीच स्वामी सेवक सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। सामान्य भाषा में यह बात असाधारण नहीं है कि ऐसे व्यक्ति के बारे में किसी अन्य के वेतन में कहा जाए यदि उसे किसी अन्य की इच्छा के अनुसार या उसके कहने पर कार्य करने के लिए संदाय किया जाता है और उस दूसरे का स्वामी होना और उसका सेवक होना आवश्यक नहीं है अर्थात् काम करने के ढंग पर जो स्वामी-सेवक के सम्बन्ध को विवक्षित करता है किसी नियंत्रण के बिना। "सरकार की सेवा में" के अतिरिक्त एक श्रेणी है जिसे खण्ड (12) (क) में समाविष्ट किया गया है। संविधानपीठ के उद्धृत मतों के सम्बन्ध में **करूणानिधि के मामले**[1] में विनिश्चय को प्रभेदित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है और इसलिए इस दलील के समर्थन में उद्धृत विनिश्चय पर विचार करना आवश्यक नहीं है कि उच्चतम न्यायालय का निर्णय विशेष रूप से संविधान न्यायपीठ के निर्णय को यूं ही प्रभेदित नहीं किया जा सकता और यह हम पर बाध्यकर है और जब तक राष्ट्रीय जीवन के मौलिक महत्व के प्रश्न अन्तर्वलित हों, हमारे द्वारा उनकी परीक्षा करना आवश्यक नहीं है। तथापि हम यह बतला दें कि **करुणानिधि के मामले**[1] में के विनिश्चय में विनिश्चयाधार यह नहीं है जो यहां पर इसके पूर्व उद्धृत किया गया है किन्तु विनिश्चयाधार पर पृष्ठ 290 पर देखा जा सकता है जहां कि संविधान न्यायपीठ ने इस निष्कर्ष पर धारा 21 के खण्ड (12) (क) में यथा सम्मिलित मुख्य मंत्री को लोक सेवक माना था—

---

[1] [1979] 3 एस० सी० आर० 254.

1984(2) eILR(PAT) SC 1

"1. कि मंत्री को राज्यपाल द्वारा नियुक्त किया जाता है और सेवोन्मुक्त किया जाता है और इसलिए वह उसके अधीनस्थ है चाहे उसके सांविधानिक कृत्यों का स्वरूप और हैसियत कुछ भी हो।

2. कि मुख्यमंत्री या मंत्री उसके द्वारा किए गए लोक कार्य या किए गए सार्वजनिक कर्तव्य के लिए वेतन प्राप्त करना है।

3. कि उक्त वेतन मुख्य मंत्री को या मंत्री को सरकारी निधियों से संदत्त किया जाता है।"

एक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि कोई दलील नहीं दी गई थी और संविधान न्यायपीठ द्वारा जो खण्ड (12) (क) में "सरकार" अभिव्यक्ति के निर्वचन के बारे में सुनवाई कर रही थी, कोई परीक्षा नहीं की गई थी। यह उपधारणा की गई थी कि मुख्य मंत्री को वेतन और भत्तों का संदाय सरकार द्वारा किया जाता है। खण्ड में "सरकार" अभिव्यक्ति क्या सूचित करती है इस बात की परीक्षा भी नहीं की गई थी और उपरोक्त निष्कर्ष पर कि मुख्य मंत्री को लोक सेवक माना गया था, किन्तु यह मामले को समाप्त नहीं कर देता।

52. मामले का यह अन्त नहीं है। प्रश्न को इस प्रकार रखा जा सकता है—"चाहे विधान सभा सदस्य सुसंगत कानून के अधीन वेतन और भत्ते प्राप्त करता हो, क्या वह सरकार के वेतन में है?" दूसरे शब्दों में, "सरकार" अभिव्यक्ति क्या सूचित करती है?

53. इस समस्या का छोटा और लम्बा उत्तर है। भारतीय दंड संहिता की धारा 17 में इस बात का उपबन्ध है कि "सरकार" शब्द केन्द्रीय सरकार या राज्य की सरकार को सूचित करता है। भारतीय दंड संहिता की धारा 7 में इस बात का उपबन्ध है कि "प्रत्येक" अभिव्यक्ति जिसे संहिता के किसी भाग में स्पष्ट किया गया है, स्पष्टीकरण के अनुसरण में संहिता के प्रत्येक भाग में प्रयोग की जाती है। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक कि धारा 7 आधुनिक कानून से भिन्न "जब तक कि संदर्भ अन्यथा उपदर्शित न करे" का उपबन्ध नहीं करता तो वाक्यांश जो आधुनिक कानून के शब्दकोशीय खण्डों का प्राक्कथन करता है। इसलिए धारा 21 (12) (क) में "सरकार" अभिव्यक्ति का या तो केन्द्रीय सरकार या राज्य की सरकार अर्थ होना चाहिए। स्पष्टीकरण को प्रतिस्थापित करते हुए धारा 21 (12) (क) का सुसंगत भाग इस प्रकार पढ़ा जायेगा "केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार के वेतन में या केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार द्वारा किसी सार्वजनिक कार्य के करने के लिए

फीस या कमीशन द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त प्रत्येक व्यक्ति।" किसी भी प्रकार से केन्द्रीय सरकार पर विचार नहीं किया गया। इसलिए संक्षेप में प्रश्न यह है "क्या विधान सभा सदस्य राज्य की सरकार के वेतन में है या राज्य सरकार द्वारा सार्वजनिक किसी कार्य के करने के लिए फीस द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त करता है।

54. राष्ट्रपतीय या संसदीय प्रणाली के प्रजातन्त्र के बीच बहस में संविधान सभा के पूर्व के दिनों के दौरान पलड़ा सरकार की संसदीय प्रणाली के पक्ष में झुका था। प्रारूपण समिति के सदस्यों में से एक श्री के० एम० मुंशी ने इस सम्बन्ध में इस प्रकार कहा था—

> "हमें एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि पिछले 100 वर्षों में भारतीय सार्वजनिक जीवन ब्रिटिश संसदीय विधि की रूढ़ि से आकर्षित रहा है। हम में से बहुत से लोगों ने ब्रिटिश आदर्श को सब से अच्छा समझा है। पिछले 30 या 40 वर्षों के लिए इसी प्रकार के दायित्व को देश के प्रशासन में स्थापित किया गया है। हमारी सांविधानिक प्रथा संसदीय बन चुकी है और अब हमारे सभी राज्यों के कार्य अधिकतर ब्रिटिश आदर्श पर होते हैं।" (क)

राय साहब रामजवाया कपूर और अन्य बनाम **पंजाब राज्य**[1] के मामले में इस न्यायालय की सांविधानिक न्यायपीठ ने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया था—

> "हमारा संविधान यद्यपि ढांचे से संघीय है ब्रिटिश संसदीय पद्धति पर बनाया गया है जहां कि कार्यपालिका के पास शासकीय नीति बनाने के लिए और विधि में इसके संप्रेक्षण के लिए मुख्य दायित्व दिखाई देता है। यद्यपि इस दायित्व के प्रयोग के लिए पुरोभाव्य शर्त राज्य की विधायी शाखा को बनाए रखना है।"

आगे यह मत व्यक्त किया गया था कि भारतीय संविधान में हमें संसदीय कार्यपालिका की वही पद्धति मिलती है जैसा कि इंग्लैंड में है और मंत्री परिषद् में विधानसभा के सदस्य सम्मिलित हैं जो ब्रिटिश मंत्रीमंडल की तरह से है। एक समास चिह्न जो जोड़ता है, एक बकसुआ जो राज्य के विधायी भाग को कार्यपालिक भाग के साथ जोड़ता है। **शमशेर सिंह और एक अन्य** बनाम **पंजाब राज्य**[2] के मामले में सात न्यायाधिपतियों की न्यायापीठ ने एक मत से

(क) देखिए संविधान सभा डिबेट, भाग 7, पृ० 984.

[1] [1955] 2 एस० सी० आर० 225.

[2] [1975] 1 एस० सी० आर० 814.

सरदारी लाल बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] के मामले में विनिश्चय को नामंजूर कर दिया था और यह अभिनिर्धारित किया था कि हमारा संविधान संघ और राज्यों दोनों के लिए ब्रिटिश आदर्श की सरकार की संसदीय या मंत्रीमंडल पद्धति सामान्यतया सन्निविष्ट करता है। इस दृष्टिकोण से अलग नहीं हुआ गया है। अब ब्रिटिश आदर्श पर बनाई गई संसदीय स्वरूप की सरकार कार्यपालिका विधानसभा और न्यायिक शक्तियां राज्य के पृथक् उपकरणों को मुख्यत: सौंपी गई हैं। एक क्षण के लिए भी इस बात का सुझाव नहीं दिया गया है कि वहां शक्तियों का कठोर या अविच्छिन्न बटवारा है। हेल्सबरी द्वारा लिखित लाज़ आफ इंग्लैंड, चतुर्थ संस्करण, भाग 8, पैरा 813 में वेस्ट मिनिस्टर माडल में कार्यपालिका, विधानसभा और न्यायपालिका के पृथक् होने का प्रकथन किया गया है। यह निम्न प्रकार पठित है—

> "यह बात स्पष्ट है कि सरकार की शक्तियां विभाजित हैं। कार्यपालिका विधायी और न्यायिक शक्तियां मुख्यत: राज्य के पृथक् उपकरणों को न्यस्त की गई हैं और स्थानीय सरकार का प्रशासन पृथकत: किया जाता है। इसलिए प्रभु में शक्ति का मूल केन्द्रीयकरण नहीं है। 18वीं शताब्दी में सरकार की शक्तियों का यह विभाजन अंग्रेजी संविधान की अनिवार्य बातों के रूप में जाना जाता था कि इसे शक्तियों के विभाजन के सिद्धांत का आधार बनाया गया था। यह सिद्धांत इस बारे में है कि ऐसे देश में जिसमें राजनैतिक स्वतंत्रता इसके संविधान का प्रत्यक्ष उद्देश्य हो, किसी भी व्यक्ति या व्यक्तियों के समुदाय को विधानमंडल, कार्यपालिका और न्यायपालिक शक्तियों का नियंत्रण करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए या उनमें से किसी दो को उसके सही रूप में अंग्रेजी सरकार के तथ्यों के अनुरूप नहीं है, मुख्यत: इसलिए क्योंकि सरकार के कर्तव्य और शक्तियां अधिकतर पृथक् की गई हैं राज्य के पृथक् उपकरणों की सदस्यता अतिव्याप्त होती है। संविधान के एक पहलू में ही यह कहा जा सकता है कि इस सिद्धांत का कठोर रूप से पालन किया जाता है अर्थात् प्रथा, रूढ़ि और विधि द्वारा न्यायपालिक राजनैतिक मामलों से पृथक् कर दी गई।"

संसद अर्थात् विधानसभा सरकार की कार्यपालिका शाखा पर नियंत्रण करती है क्योंकि सरकार के संसदीय स्वरूप की यह मूल धारणा है कि कार्यपालिका

[1] [1971] 3 एस० सी० आर० 461.

विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी है। दूसरे शब्दों में देश की सरकार एक मंत्रीमंडल और एक मंत्रालय द्वारा नियंत्रित होती है जो निर्वाचकों द्वारा चुनी जाती है, जो निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी रहते हुए प्रत्यक्षत: विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी है और नियंत्रण करने का ऐसा प्रभावी माध्यम यह है कि राज्य की समेकित निधि में से कोई खर्च पहले विधानमंडल के समक्ष रखा जाना चाहिए। हैल्सबरी द्वारा लिखित लाज आफ इंग्लैंड, चौथा संस्करण, भाग 34, पैरा 1005 में यह कहा गया है कि संसद कार्यपालिका सरकार और विधियों के प्रशासन के कार्यों पर नियंत्रण करती है जो उसने विभिन्न प्रकार से अधिनियमित किए हैं और इस प्रकार का एक तरीका संविधान के सिद्धांत द्वारा है जिसके द्वारा आपूर्ति प्रति वर्ष हाऊस आफ कामन द्वारा अनुदत्त की जाती है और प्रत्येक वर्ष उसे विधायी मंजूरी मिलनी चाहिए और अनुदत्त आपूर्ति विशेष प्रयोजनों के लिए जिसके लिए इसे अनुदत्त किया गया है समायोजित की जानी चाहिए। यह बात भी ध्यान देने की है कि हाऊस आफ कामन के कर्मचारी हाऊस आफ कामन कमीशन द्वारा नियुक्त किए जाते हैं जिनमें स्पीकर हाऊस आफ कामन का नेता और विरोध नेता द्वारा नाम-निर्देशित हाऊस का सदस्य और हाऊस द्वारा नियुक्त तीन अन्य सदस्य होते हैं। कमीशन सेवा के कर्तव्यों का अवधारण करने, उसकी संख्या, वेतन और अन्य शर्तें और निर्बन्धन अवधारित करने के लिए प्रभारित है। यह कमीशन हाऊस के समक्ष गृह विभागों के खर्चों का एक प्राक्कलन हाऊस के समक्ष रखने का जिम्मेदार भी है और अन्य खर्चे जो हाऊस आफ कामन की सेवा के लिए उपगत किए जाते हैं। (पूर्वोक्त पैरा 1155)

55. अब हम संविधान के सुसंगत उपबंधों पर आते हैं। संविधान के भाग 6 में इस बात का उपबंध है कि "राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगा।" भाग 6 में अध्याय 3 में राज्य विधानमंडल का उपबंध है। प्रत्येक राज्य का एक विधान मंडल होगा जिसमें राज्यपाल होगा और यह एक सदनी या द्विसदनी जैसा भी मामला हो, हो सकेगा। जहां कि राज्य में एक सदनी विधान मंडल है तो उस विधान मंडल को विधान सभा कहा जाएगा। अनुच्छेद 170 में विधान सभा के सदस्यों के लिए राज्य में क्षेत्रीय निर्वाचन क्षेत्रों से सदस्यों को प्रत्यक्ष निर्वाचन के द्वारा चुने जाने का उपबंध है। अनुच्छेद 178 से 186 में राज्य विधान मंडल के अधिकारियों का उपबन्ध है जैसाकि विधान सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष और विधान परिषद् के सभापति और उप-सभापति जैसा भी

मामला हो। उनकी शक्तियां, कर्तव्य और उनके या तो पद को खाली करने या पद से हटाए जाने के बारे में उपबन्ध है। अनुच्छेद 187(1) में इस बात का उपबन्ध है कि "राज्य के विधान मंडल के सदन या प्रत्येक सदन का पृथक् साचविक कर्मचारीवृन्द होगा।" इस अनुच्छेद का उपांतरिक टिप्पण "राज्य के विधान मंडल का सचिवालय" है। अनुच्छेद 187 का उप-अनुच्छेद (2) इस बात का उपबंध करता है कि राज्य का विधानमंडल विधि द्वारा राज्य के विधानमंडल के सदन या सदनों के साचविक कर्मचारीवृन्द में भर्ती का तथा नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तों का विनियमन कर सकेगा। अनुच्छेद 276 का राज्य को एक समेकित निधि स्थापित करने के लिए बाध्य करता है। अनुच्छेद 203 में प्राक्कलनों के सम्बन्ध में प्रक्रिया विहित है। प्राक्कलन जो राज्य की समेकित निधि पर भारित खर्चों से सम्बन्धित है राज्य विधान मंडल द्वारा मत के लिए नहीं रखे जायेंगे किन्तु विधान मंडल में बहस उन पर अनुज्ञेय है। तथापि उक्त प्राक्कलनों के बारे में जिनका सम्बन्ध अन्य खर्चों से है, विधान सभा को अनुदान की मांगों के रूप में पेश किए जाएंगे और विधान सभा को किसी मांग पर अनुमति देने या अनुमति देने से मना करने की शक्ति होगी या किसी मांग को उसमें विनिर्दिष्ट रकम की कटौती के अधीन अनुमति देने की शक्ति होगी। दूसरे शब्दों में, विधान सभा को निधि पर पूर्ण शक्ति प्राप्त है। अनुच्छेद 204 राज्य की समेकित निधि से निम्नलिखित को पूरा करने के लिए अपेक्षित सभी रकमों का समायोजन करने के लिए विधेयक पुरःस्थापित करने के लिए बाध्य करता है— (क) विधान सभा द्वारा इस प्रकार किए गए अनुदान, और (ख) राज्य की समेकित निधि पर भारित खर्च किन्तु जो किसी भी प्रकार से किसी सदन या सदनों के समक्ष पूर्व रखे गए किसी विवरण में दर्शाई गई रकम से अधिक न हो। इन उपबंधों की सरणीबद्धता स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित करती है कि विधान मंडल को निधि पर शक्ति प्राप्त है। अनुच्छेद 226 के अधीन स्थापित किए जाने वाले राज्य की समेकित निधि पर भारित खर्चों के सम्बन्ध में भी एक विनियोजन विधेयक प्रस्तुत और स्वीकृत करना होता है, निस्संदेह उस पर मतदान नहीं होगा और इस बात पर भी विवाद नहीं है कि विधानसभा सदस्य को संदेय वेतन और भत्ते राज्य की समेकित निधि पर भारित नहीं है। संभवतः इंग्लैंड में स्थिति का यह अनुकरण है जहां कि संसद् के सदस्य समेकित निधि पर प्रभारित नहीं है। आवश्यक अनुमान के रूप में यह मतदान योग्य मद होगी।

56. इस प्रकार से हमारे संविधान में कार्यपालिक, विधायी और न्यायिक कर्तव्यों में विस्तृत विभाजन है। विधानमंडल एक विस्तृत नीति

अधिकथित करता है और उसे खर्च की शक्ति प्राप्त है। कार्यपालिका उस नीति को निष्पादित करती है और समेकित निधि से खर्च करती है जो विधानमंडल मंजूर कर देता है। विधानसभा ने अधिनियम अधिनियमित किया जो अपने सदस्यों को वेतन और भत्ते संदाय करने के लिए सक्षम करता है। और सदस्य अनुदान पर मतदान करते हैं और अपने आपको संदाय करते हैं। इस पृष्ठभूमि में चाहे इस संदाय को वितरण करने के लिए कोई अधिकारी हो या वह वेतन बिल बनाना हो ऐसे तथ्य नहीं हैं जो मामले के निर्णायक हैं। यह मात्र संदाय की पद्धति है किन्तु विधानसभा सदस्य मतदान के द्वारा सुसंगत कानून के अधीन उन्हें संदेय वेतन और भत्तों के लिए परिव्यय के प्रयोजनों के लिए सुरक्षित निधि को रखते हैं। इसलिए यद्यपि विधानसभा सदस्य वेतन और भत्ते प्राप्त करता है, वह राज्य सरकार के वेतन में नहीं है क्योंकि राज्य के विधानमंडल में "राज्य सरकार" अभिव्यक्ति अन्तर्विष्ट नहीं है।

57. यह बात संविधान के अनुच्छेद 12 में अन्तर्विष्ट उपबन्ध से और भी स्पष्ट हो गई है जिसमें इस बात का उपबन्ध है कि "भाग 3 के प्रयोजनों के लिए जब तक कि प्रसंग से दूसरा अर्थ अपेक्षित न हो 'राज्य' के अन्तर्गत भारत की सरकार और संसद तथा राज्यों में से प्रत्येक की सरकार और विधानमंडल तथा भारत राज्य क्षेत्र के भीतर अथवा भारत सरकार के नियंत्रण के अधीन सब स्थानीय और अन्य प्राधिकारी सम्मिलित हैं।" "सरकार और विधानमंडल" अभिव्यक्ति दो पृथक इकाइयां हैं जिन्हें "राज्य" अभिव्यक्ति के भीतर सम्मिलित करना चाहा गया है जिसका अर्थ यह होगा कि अन्यथा वे भिन्न और पृथक् इकाइयां हैं। इस निष्कर्ष पर इस तथ्य के द्वारा आगे और जोर दिया गया है कि कार्यपालिका अपना पृथक् सचिवालय स्थापित करती है जबकि अनुच्छेद 187 में सभापति के नियंत्रण के अधीन विधानमंडल के कर्मचारियों का उपबंध है जिनकी सेवा की शर्तें और निबन्धनों का अवधारण विधानमंडल द्वारा किया जाएगा न कि कार्यपालिका द्वारा। जब इन सभी पहलुओं को साथ-साथ रखा जाता है तो धारा 21 (12) (क) में "सरकार" अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से कार्यपालिका को सूचित करती है न कि विधानमंडल को। विधानसभा सदस्य विशुद्ध रूप से कार्यपालिका के वेतन में नहीं हैं। इसलिए इस निष्कर्ष से नहीं बचा जा सकता कि चाहे विधानसभा सदस्य वेतन और भत्ते प्राप्त करता है, उसे सरकार के अर्थात् कार्यपालिका के वेतन में नहीं कहा जा सकता। यह निष्कर्ष खण्ड (12) (क) के तृतीय भाग को भी प्रशासित करता है अर्थात् "सरकार द्वारा सार्वजनिक कार्य के करने के

लिए फीस द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त।" दूससे शब्दों में, विधानसभा सदस्य सरकार द्वारा अर्थात कार्यपालिका द्वारा संदत्त फीस द्वारा पारिश्रमिक नहीं पाता।

58. यह भी दलील दी गई थी कि विधानसभा सदस्य कोई सार्वजनिक कार्य नहीं करता। इस पहलू की परीक्षा करना आवश्यक नहीं है क्योंकि इस अत्यधिक विस्तृत दलील को स्वीकार करना कठिन होगा। विधानसभा सदस्य कोई सार्वजनिक कार्य नहीं करता। तथापि इस बात को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता कि वह सरकार द्वारा या सरकार के लिए निदिष्ट कोई सार्वजनिक कार्य नहीं करता। निस्संदेह वह लोक कर्तव्य करता है जो संविधान द्वारा और उसके निर्वाचकों द्वारा उसे सौंपा गया है। इस प्रकार से वह सांविधानिक कृत्यों का उन्मोचन करता है जिसके लिए वह संविधान के अधीन और न कि कार्यपालिका द्वारा फीस द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त करता है।

59. आगे यह दलील दी गई थी कि **हिज मैजेस्टी दि किंग** बनाम **बोस्टन और अन्य**[1] के मामले में विनिश्चय की समरूपता पर विधानसभा सदस्य लोक सेवक होगा। **बोस्टन के मामले**[1] में अभिकथन यह था कि हैरिसन और माइकल मूर ने न्यू साउथ वेल्स की विधानसभा के सदस्य के रूप में अपनी शासकीय हैसियत में प्रतिवादी बोस्टन को संदाय किया था और बोस्टन ने भ्रष्ट रूप से ऐसे सदस्य के रूप में अपनी हैसियत का प्रयोग करके अपने शासकीय कर्तव्य के अतिक्रमण में उसको प्रलोभन के रूप में उस हैसियत में स्वीकार किया था (क) जिससे कि कतिपय संपदाओं की न्यू साउथ वेल्स की राज्य की सरकार द्वारा अर्जन को और ऐसी संपदाओं के संदाय के लिए राज्य की सार्वजनिक निधि से सुनिश्चित किया जा सके और (ख) मिनिस्टर फार लैंड्स पर और राज्य के अन्य अधिकारियों पर ऐसी संपदा के लिए अर्जन और संदाय के लिए दवाब डाला जा सके। दलील यह थी कि प्रतिवादियों के बीच करार बोस्टन को संसद से बाहर अनन्य रूप से अपनी स्थिति का प्रयोग करने के लिए प्रेषित करने हेतु रकम का संदाय करने के लिए करार किया था और विधानसभा में मत या भाषण के द्वारा नहीं और वह संव्यवहार जिसके सम्बन्ध में मन्त्री पर अपना दबाव डालने के लिए उसे अपनी स्थिति का प्रयोग करना था निरन्तर इस सूचना के साथ था जो संसद् के समक्ष नहीं आयेगा और जो उसकी राय में और उन अन्य लोगों की राय में जिन्होंने उसके लिए संदाय किया है

---

[1] (1923-24) 33 कामनवेल्थ ला रिपोर्ट्स 386-82.

राज्य के लिए काफी लाभपूर्ण था कि ऐसा करार दांडिक अपराध नहीं होगा और परिणामस्वरूप वह सूचना बुरी है। इस दलील को नकारते हुए यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यह सुनिश्चित विधि है कि कोई करार या किसी करार को करने के लिए कोई समुच्चय जो लोक रिष्टि प्रस्तुत करने के लिए आशयित है दांडिक षडयंत्र होता। बहुमत द्वारा आगे यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संसद के किसी सदस्य को रकम का संदाय या रकम का उसके द्वारा प्राप्त करना जिससे कि उसकी शासकीय स्थिति को चाहे संसद में या संसद के बाहर प्रलोभित करने के लिए जो किसी मन्त्री या सत्ता के किसी अन्य अधिकारी पर दवाब डालने या उसे प्रभावित करने के प्रयोजन के लिए हो जो लोक निधियों से रकम के संदाय से अन्तर्वलित किसी संव्यवहार को करने या चलाने के बारे में हों ऐसे कार्य हैं जिनका आशय लोक रिष्टि है और ऐसे कर्तव्यों को करने के लिए करार या संयोग दांडिक अपराध हैं। इस प्रश्न की सुनिश्चित विधि के दृष्किोण से परीक्षा की गई थी कि ऐसा कार्य करने के लिए कोई कार्य या संयोग जो लोक रिष्टि पैदा करने के लिए आशयित है, दांडिक षडयंत्र होता है। न्यायाधीश आइजक और रिच ने इस प्रश्न को इस प्रकार रखा— न्यू साउथवेल्स की विधानसभा का कोई सदस्य किस प्रकार से वास्तविक व्यष्टिक दायित्व को उपगत किए बिना अर्थात् राजनैतिक नामंजूरी से भिन्न—अपनी सार्वजनिक स्थिति को अपने आपको निजी धन सम्बन्धी विचार के बदले व्यक्तियों की ओर से विभागीय हस्तक्षेप में लिप्त होकर लाभपूर्ण व्यवसाय के अधीन अपनी सार्वजनिक स्थिति को कर सकता है। सहमत निर्णय ने संसद के सदस्य की सामान्य स्थिति की परीक्षा की और फिर सुसंगत उपबन्ध के विशेष उपबन्धों की परीक्षा की। इस प्रश्न पर यह निष्कर्ष निकाला गया था कि मूल बाध्यता जो इस मामले का आधार है, सेवा करने का कर्तव्य है और सेवा करने में निष्ठा के साथ कार्य करना और समुदाय के कल्याण के लिए सरलता से कार्य करना है। इसलिए आगे यह मत व्यक्त किया गया था कि संसद का सदस्य सर्वोपरि भाव में राज्य का सेवक है। उसका कर्तव्य उस स्थिति से सम्बन्धित है जिनको वह पूरा करता है। उसकी स्थिति अस्थिर नहीं है या उसका अस्थायी स्थायित्व नहीं है और सरकार के संवैधानिक तन्त्र में वह एक मान्यता प्राप्त सदन बनाने की स्थिति में है। यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि वह एक पद धारण करता है। न्यायाधिपति हिग्गिंस के तीसरे सहमत निर्णय में यह मानते हुए कि संसद सदस्य को ऐसे कर्तव्य का विमोचन करना होता है जिसमें कि जनता हितबद्ध होती है किन्तु लोक सेवक अधिनियमों के उपबन्धों की परीक्षा करने के पश्चात् यह

अभिनिर्धारित किया गया था कि वह उस अधिनियम के अर्थान्तर्गत लोक अधिकारी नहीं है क्योंकि उससे राजा के आदेशों या विभागीय अध्यक्षों के आदेशों का पालन करने की अपेक्षा नहीं है तथापि यह निष्कर्ष निकाला गया था कि संसद के सदस्य के रूप में वह जनता के प्रति न्यासी सम्बन्ध रखता है और यह काफी है। गेवन डफी और स्टारक न्यायाधिपतियों के अल्पमत निर्णय स्पष्ट रूप से अपनी इन धारणा पर आगे बढ़ता है कि न्यू साउथ वेल्स का विधान सभा सदस्य सामान्य विधि के अर्थान्तर्गत सार्वजनिक पद का धारण नहीं है और चाहे उसे ऐसे पद का धारण मान लिया जाए तथापि प्रतिवादी बोस्टन द्वारा किए जाने के लिए यथा आशयित प्रभारित कार्य कितने अनुचित हों तब तक उसके पद में किए गए कार्य या उसके पद का भ्रष्टाचार नहीं होगा जब कि वे उसके विधानीय कर्तव्यों के निर्वहन में न किए गए हों। चूंकि हमारी संबंध विधायी अधिनियमिति से है—धारा 21 (12) (क), यह विनिश्चय सामान्य विधि की धारणा और कुछ कानूनों पर आधारित है जैसाकि आस्ट्रेलिया में अभिभावी थे वे अधिक सहायक नहीं होंगे। भारत में विधान सभा सदस्य और संसद सदस्य को ब्रिटेन में संसद सदस्यों के साथ तुलना करते हुए इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि ब्रिटेन में संसद सदस्य न तो परिवेंशन आफ कारेप्सन ऐक्ट, 1906 और न ही परिवेंशन आफ कोरेप्सन ऐक्ट, 1916 के अन्तर्गत आता है। इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि पब्लिक बोडीस कोरेप्ट प्रैक्टीसेज ऐक्ट, 1889 के अन्तर्गत ब्रिटेन में संसद सदस्य नहीं आता। "संसद के किसी सदन के किसी सदस्य द्वारा ऐसे सदस्य के रूप में अपने आचरण में उसे प्रभावित करने के लिए कोई रिश्वत या कोई फीस प्रतिकर या पारितोषिक किसी विधेयक, संकल्प, मामले या किसी बात की प्रगति के लिए या उसका विरोध करने के लिए जो किसी सदन में उसकी किसी समिति में पेश की गई है या पेश किए जाने के लिए आशयित है विशेषाधिकार का भंग है"। (ख) देखिए अर्सकिन द्वारा लिखित पार्लियामेंटरी प्रैक्टीसेज, 20वां संस्करण, पृष्ठ 149। ब्रिटेन में संसद सदस्य को या तो परिवेंशन आफ कोरेप्सन ऐक्ट या पब्लिक बोडीस कोरेप्ट प्रैक्टीसेज ऐक्ट के उपबन्धों के अधीन लाने का प्रयत्न सफल नहीं हो सका है। यहां तक कि सार्वजनिक जीवन में भद्रता का ऐसा अल्पांश जैसा कि किसी प्रकार का धनिक हित या लाभ प्रकट करना या तो प्रत्यक्षतः या परोक्षतः जो उसका हो सकता था या वह रख सकता था बहस में भाग लेते समय या ब्रिटेन में संसद सदस्य द्वारा सदन की कार्यवाहियों में भाग लेते समय उसका सन् 1974 में जोरदार शब्दों में विरोध किया गया। किन्तु पालसन के कार्यों ने बहुत से लोगों को और रायल कमीशन ऑन कोरेप्सन इन पब्लिक

लाइफ को जिसकी अध्यक्षता लार्ड जस्टिस सिलमान ने की थी को झकझोर दिया था। कमीशन ने सन् 1976 में अन्य बातों के साथ इस बात की सिफारिश की थी कि संसद सदस्य ही संसद सदस्यों को उनके कार्यों के लिए संसद के बाहर तथा भीतर प्रस्थापित विधियों की परिधि में लाया जाना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय उसके ऊपर कोई कार्यवाही नहीं की गई।

60. यदि विधान सभा सदस्य कार्यपालिका सरकार के भाव में सरकार के वेतन में नहीं है या उसे कार्यपालिका सरकार द्वारा किसी सार्वजनिक कार्य के करने के लिए फीस द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त नहीं होता है तो निश्चित रूप से वह खण्ड (12) (क) की अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत "लोक सेवक" अभिव्यक्ति में समाविष्ट नहीं होगा। इस प्रकार से वह खण्ड (12) (क) की अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक नहीं है। यह निष्कर्ष फिर से पूर्व निष्कर्ष को बल देता है जिस पर हम खंड (12) (क) के ऐतिहासिक विकास की परीक्षा करने के पश्चात् पहुंचे थे।

61. तथापि, सिंघवी मुस्तैदी ने यह दलील दी कि विधान सभा सदस्य भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 के खण्ड (3) या खंड (7) में लोक सेवक समाविष्ट होगा। उन्होंने यह सुझाव दिया कि उनका जोर तुलनात्मक रूप से खंड(3) पर अधिक था और खंड(12)(क) पर नहीं था इसलिए इस बात की अब परीक्षा की जा सकती है कि क्या विधान सभा सदस्य भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 के खंड (3) या खंड (7) में किसी में समाविष्ट है?

62. (ङ) के बारे में: धारा 21 के खंड 3 जैसा कि यह अब है अपने विस्तार क्षेत्र में सभी न्यायाधीशों को लाता है जिसमें ऐसा कोई व्यक्ति सम्मिलित है जो विधि द्वारा या तो स्वयं या व्यक्तियों के किसी निकाय के सदस्य के रूप में किन्हीं न्याय निर्णयन कर्तव्यों को उन्मोचित करने के लिए विधि द्वारा आशक्त है। 1964 के अधिनियम संख्या 40 के द्वारा उसके संशोधन से पूर्व खंड 3 में केवल "प्रत्येक न्यायाधीश" ही पढ़ा जाता है। खंड 3 को जैसा कि यह संथानम समिति की सिफारिशों के अनुसरण में अब है इस प्रकार पढ़ा जाता है। रिपोर्ट के पैरा 7·6 में यह सिफारिश की गई थी कि इसमें अन्य श्रेणी जोड़ दी जानी चाहिए जिसमें ऐसे सभी व्यक्ति सम्मिलित हों जो तत्समय प्रबल किसी संघ या राज्य विधि के अधीन नए निर्णयन सम्बन्धी कार्यों को उन्मोचित करने वाले सभी व्यक्ति सम्मिलित हों इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए समिति ने यह सिफारिश की थी कि खंड 3 को इस प्रकार पढ़ा जाना चाहिए: "प्रत्येक

न्यायाधीश जिसमें ऐसा व्यक्ति भी सम्मिलित है जिसे तत्समय प्रवृत किसी विधि के क्रम में न्याय निर्णायक कर्तव्यों से न्यास किया गया हो"। विधेयक के चरण में खंड को पुन : लिखा गया था जिससे कि यह समिति की सिफारिशों को पूरे रूप से प्रभावी कर सके और यह समान रूप से 1964 के विधेयक संख्या 6 के साथ लगे उद्देश्य और कारणों के कथन से साफ हो गया है जो जब स्वीकार किया गया 1964 का अधिनियम संख्या 40 बना था। उद्देश्य और कारण के कथन के पैरा 2(क) में यह कहा गया है कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 की लोक सेवक की परिभाषा को संशोधित किए जाने का प्रस्ताव है जिससे की यह अपने विस्तार क्षेत्र में व्यक्तियों के कतिपय और श्रेणियों को ला सके जैसा कि ऐसे व्यक्ति जो किसी विधि के अधीन न्याय निर्णायक कर्तव्यों को कर रहे हों, परिसमापक, प्रापक, आयुक्त आदि। यदि हम पूर्व बहस पर ध्यान दें जो खंड (12) (क) के विकास के इतिहास के बारे में थी और संथानम समिति के पूर्ण विस्तार के बारे में थी विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि विधान सभा सदस्य को धारा 21 के खंडों की रूपरेखा के भीतर लाने का कभी आशय नहीं रहा जिससे की उसे लोक सेवक की हैसियत के भीतर लाया जा सके।

63. इस ऐतिहासिक विकास से स्वतंत्र और खण्ड (3) की भाषा पर ध्यान केन्द्रित करते हुए यह मानना कठिन है कि विधान सभा सदस्य विधान सभा जैसे व्यक्तियों के किसी निकाय के सदस्य के रूप में विधि द्वारा सशक्त न्याय-निर्णायक कर्तव्यों को उस कर्तव्य के उन्मोचन में करता है। वास्तव में संथानम समिति ने परिसमापकों, प्रापकों, आयुक्तों, आदि जैसे अधिकारियों को इसके अन्तर्गत लेने का अनुध्यान किया था जिनमें से प्रत्येक विभिन्न हैसियतों द्वारा ऐसे न्याय-निर्णायक कर्तव्यों को उन्मोचित करने के लिए सशक्त है जैसाकि सम्बन्धित विधि द्वारा विहित हो।

64. तथापि यह दलील दी गई थी कि "न्यायाधीश" अभिव्यक्ति की भारतीय दण्ड संहिता की धारा 19 में "न केवल ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो न्यायाधीश के रूप में शासकीय रूप से पदनामित हो किन्तु ऐसा प्रत्येक व्यक्ति भी जो विधि द्वारा किसी सिविल या दांडिक विधिक कार्यवाही में कोई निश्चायक निर्णय या ऐसा निर्णय जिसके विरुद्ध अपील की जाए निश्चायक हो देने के लिए सशक्त हो या ऐसा निर्णय यदि किसी अन्य प्राधिकारी द्वारा उसे पुष्ट किया जाए निश्चायक हो या ऐसा व्यक्ति जो ऐसे व्यक्तियों के निकाय में से एक हो, जिन व्यक्तियों का निकाय विधि द्वारा ऐसा निर्णय देने के लिए सशक्त है" को सूचित करने के लिए परिभाषा दी गई है और खण्ड (3) में इस परिभाषा को प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह एक अन्तर्भूत परिभाषा है जिसका

अर्थ यह है कि यह स्वरूप से विस्तारी है। इस स्थिति को स्वीकार करते हुए कि विस्तारी परिभाषा जो ऐसी अभिव्यक्ति के विनिर्दिष्ट अर्थ तक विस्तारित होती है जो उसकी अन्यथा नहीं है इस बात का अवधारण करना आवश्यक है कि क्या "न्यायाधीश" अभिव्यक्ति का यह विस्तार इतना विस्तृत है जिससे कि इसके भीतर इस आधार पर विधान सभा सदस्य आ जाता है कि विशेषाधिकार के भंग के लिए या सदन के अवमान के लिए मतदान करते समय वह न्यायनिर्णायक कर्तव्यों का निर्वहन करता है और कि विधि द्वारा ऐसा करने के लिए वह सशक्त है। जब अध्यक्ष की आज्ञा से विशेषाधिकार के भंग का कोई प्रस्ताव विधान सभा में समावेदित किया जाता है या सदन के अवमान के लिए कार्यवाही करने के लिए कोई प्रस्ताव समावेदित किया जाता है तो निस्सन्देह सदन के प्रत्येक सदस्य को उसमें भाग लेने का अधिकार है और प्रस्ताव पर बहस होने के पश्चात् बहुमत को सदन के विनिश्चय के रूप में अभिलिखित किया जाता है। क्या यह बात विधान सभा सदस्य को ऐसे व्यक्तियों के निकाय के सदस्य के रूप में ऐसा व्यक्ति बनाती है जो न्यायनिर्णायक कर्तव्यों का निर्वहन करता है? "न्यायाधीश" अभिव्यक्ति की परिभाषा में किसी सिविल या दांडिक विधिक कार्यवाही में न्याय निर्णयन सम्मिलित है और जिसमें कोई व्यक्ति न्यायाधीश के रूप में निश्चायक निर्णय देने के लिए सशक्त है। इस दलील को स्वीकार करना कठिन है कि सदन के समक्ष कार्यवाहियां या तो विशेषाधिकार के भंग के प्रस्ताव पर या अवमान के लिए सिविल या दांडिक कार्यवाहियां हैं जैसा कि ये शब्द सामान्यतया सूचित करते हैं। विशेषाधिकार के भंग के लिए या सदन के अवमान के लिए प्रस्ताव सदन के समक्ष लाया जाता है जब कि उसका प्रस्ताव यह अनुभव करता है कि सदन की शक्तियां, विशेषाधिकार और स्वतंत्रता का अतिक्रमण किया गया है। "सदन को अवमान के लिए दण्ड देने की शक्ति है" और "सदन की दांडिक अधिकारिता उसके सदस्यों तक सीमित नहीं है, न ही उनकी उपस्थिति में किए गए अपराधों तक सीमित है, किन्तु सदनों के उन सभी अवमानों तक विस्तारित होती है चाहे वह सदस्यों द्वारा की गई हो या ऐसे किसी व्यक्तियों द्वारा की गई हो जो सदस्य नहीं हैं। इस बात के होते हुए भी कि क्या अपराध सदन में किया गया है या उसकी दीवारों के बाहर किया गया है" (देखिए अर्सकिनमे द्वारा लिखित पार्लियामेंटरी प्रेक्टिस, 20वां संस्करण, पृष्ठ 122)। सुपुर्दगी की यह शक्ति सही रूप से संसदीय व्यवहार के मूल आधार के रूप में परिभाषित की गई है। यह बताया गया था कि "शक्ति का मूल जो अपने स्वरूप में न्यायिक है, सामान्यतया संसद् की मध्यकालीन धारणा में पाया जाता है जैसाकि मुख्यत: न्यायालय, संसद् का उच्च न्यायालय"

(पूर्वोक्त पृष्ठ 124)। तथापि यह कहना कठिन है कि राज्य विधान मंडल जो हमारे संविधान के अधीन कार्य कर रहा है, उसकी विधान सभा के उच्च न्यायालय के रूप में परिभाषा की जा सकती है। ब्रिटेन में संसदीय व्यवहार को अपनी संसदीय विधि के साथ अन्धा धुन्ध तुलना करने में कोई भी व्यक्ति इस स्पष्ट तथ्य की उपेक्षा करने में युक्त होगा कि हाऊस आफ लार्ड्स को सदैव कोर्ट आफ वेस्ट मिनिस्टर हाल के रूप में न्यायिक शक्ति प्राप्त है। (पूर्वोक्त पृष्ठ 124) इस सम्बन्ध में **1964 के विशेष निर्देश संख्या**[1] में यह स्पष्ट रूप से कहा गया था कि अनुच्छेद 194 (3) के पश्चात्वर्ती भाग में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के परिणाम का आशय भारत में राज्य विधान मंडलों को अभिलेख के वरिष्ठ न्यायालय की हैसियत प्रदत्त करना नहीं था। आगे यह मत व्यक्त किया गया था कि "सदन और वास्तव में भारत में सभी विधान सभाओं में किन्हीं न्यायिक कर्तव्यों का निर्वहन किया और उनकी ऐतिहासिक और संवैधानिक पृष्ठ भूमि इस दावे का समर्थन नहीं करती कि उन्हें किसी भी भाव में अभिलेख का न्यायालय माना जा सकता है"। निस्सन्देह विधान सभा को अनुच्छेद 194 (3) में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के दृष्टिकोण से विशेषाधिकार के भंग के लिए और उस सदन के अवमान के लिए दण्ड अधिरोपित करने की शक्ति प्राप्त है। और जब कोई प्रस्ताव विशेषाधिकार के भंग का परिवाद करते हुए या सदन का अवमान करने के लिए कार्यवाही करने हेतु प्रस्तावित किया जाता है तो सदस्य बहस में भाग लेने, प्रस्ताव के समर्थन में और प्रस्ताव के विरोध में किसी साक्ष्य या उसकी अनुपस्थिति का विश्लेषण करने और अंततः प्रजातांत्रिक प्रक्रिया के द्वारा एक निकाय के रूप में इस बात का विनिश्चय करने कि क्या प्रस्ताव पुष्ट किया गया है या नामंजूर किया गया है। प्रश्न यह है कि क्या इस प्रक्रिया को विधि द्वारा यथा सशक्त विधान सभा सदस्य द्वारा निर्वहन किए जाने वाली न्याय-निर्णायक प्रक्रिया कहा जा सकता है। यदि "विधि" अभिव्यक्ति में संविधान सम्मिलित है तो निश्चित रूप से इस शक्ति का उपभोग विधान सभा सदस्य द्वारा किया जाता है किन्तु "विधि" में साधारणतः संविधान सम्मिलित नहीं है। संविधान के अनुच्छेद 13 (1) में इस बात का उपबन्ध है कि "संविधान के प्रवर्तन अव्यवहित पूर्व भारत के संघ राज्य क्षेत्र में प्रवृत्त सभी विधियां यहां तक कि वे भाग 3 के उपबन्धों के अनुसरण में हैं असंगतता की हद तक शून्य होंगी। उप अनुच्छेद 2 राज्य की विधायी शक्ति पर ऐसी किसी विधि

---

[1] [1965] 1 एस० सी० आर० 413.

को बनाने के लिए निर्बन्धन अधिरोपित करती है जो भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारियों को हटाता हो या लघुकृत करता हो और उप अनुच्छेद 2 के अतिलंघन में बनायी गयी कोई विधि अतिलंघन के विस्तार तक शून्य होगी"। "विधि" अभिव्यक्ति जैसा कि यहां पर प्रयोग की गयी है संविधान से भिन्न विधि होगी। दूसरे शब्दों में, विधियां शक्ति के प्रयोग में अधिनियमित विधि होगी। **आई० सी० गोलकनाथ** बनाम **पंजाब राज्य**[1] के मामले में बहुमत का दृष्टिकोण कि विधायी प्रक्रिया के भाग में संविधान का संशोधन विधिमान्य नहीं रहता क्योंकि इस बात को स्वीकार किया गया था कि संविधान (24वें) संशोधन अधिनियम, 1971 यहां तक कि यह संविधान को संशोधन करने की शक्ति को संविधान के अनुच्छेद 248 या उसकी अवशिष्ट प्रविष्टि से अनुच्छेद 368 को अन्तरित करता है, विधिमान्य है। ऐसा कहने के पश्चात् **हिज हाईनैस केशवानन्द भारती श्री पदनांगल वारू** बनाम **केरल राज्य और एक अन्य**[2] के मामले में विभिन्न निर्णयों का सुझाव का रुझान यह दर्शाता है कि जब संविधान के संशोधन की शक्ति का प्रयोग संसद द्वारा किया जाता है तो यह संवैधानिक शक्ति का प्रयोग करती है और यह साधारण विधायी प्रक्रिया से स्वतंत्र है। और इस दृष्टिकोण का संविधान साधारण खण्ड अधिनियम में "भारतीय विधि" अभिव्यक्ति की परिभाषा के निर्देश से है जो संविधान को सम्मिलित नहीं करता। तीसरी अनुसूची में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधिपतियों और उच्च न्यायालय के न्यायमूर्तियों के लिए विहित शपथ प्ररूप का भी एक सरसरा निर्देश किया जा सकता है जो संविधान और विधियों को पृथकतः निर्दिष्ट करता है।

65. विशेषाधिकार के भाग या सदन के अवमान के लिए कार्यवाही करने के लिए प्रस्ताव पर बहस में भाग लेना और उस पर मतदान करना सदस्यों द्वारा निर्वहन किए जाने वाला एक संवैधानिक कर्तव्य है और इसलिए यह कहा जा सकता है कि ऐसा न्याय-निर्णयन संबंधी कर्त्तव्य यदि इसे ऐसा नाम दिया जाए विधि द्वारा यथा सशक्त विधान सभी सदस्य द्वारा किया गया न्याय-निर्णायक कर्त्तव्य है। इस दृष्टिकोण से विचार करते हुए इस दलील की परीक्षा करना आवश्यक नहीं है कि न्याय-निर्णयन और परिणामी निर्णय न्याय-निर्णायक से भिन्न अन्य व्यक्तियों के बीच मुकदमे के पूर्व नहीं होता जब तक कि वह अवमान के लिए या विशेषाधिकार के भंग के लिए प्रस्ताव

---

[1] [1967] 2 एस० सी० आर० 672.

[2] [1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

पेश करता है। तदनुसार यह दलील कि अभियुक्त भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के खंड 3 में अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक होगा नामंजूर किया जाना चाहिए।

66. दलील का अन्तिम भाग यह था कि किसी भी प्रकार से अभियुक्त भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के खंड 7 के अर्थान्तर्गत लोक सेवक होगा जो अपनी परिधि के भीतर "ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को ले लेती है जो ऐसा पद धारण करता हो जिसके कारण वह किसी व्यक्ति को कैद में रखने के लिए सशक्त करता हो"। दलील का यह भाग विद्वान् विचारण न्यायाधीश के विचार के लिए नहीं रखा गया था और इसे मात्र नामंजूर किया जाना चाहिए। तथापि, हमें इसे इस संक्षिप्त आधार पर नामंजूर नहीं करना चाहिए। इस दलील का विस्तार करते हुए यह दलील दी गई थी कि विधान सभा संदस्य किसी व्यक्ति को विशेषाधिकार के भंग या सदन के अवमान का दोषी निर्णीत करने के लिए सशक्त है और जब कारावास का दंड उसे परिरुद्ध करने के लिए अधिरोपित कर दिया जाता है। इस दलील के प्रयोजन के लिए मान लीजिए कि विधान सभा सदस्य पद धारण करता है क्या वह ऐसा व्यक्ति है जो किसी व्यक्ति को परिरोध में रखने के लिए सशक्त है। दंड अधिरोपित करने की शक्ति किसी व्यक्ति को परिरुद्ध में रखने की शक्ति से स्वतंत्र है। प्रथम कारावास दंडादेश अधिरोपित करने की शक्ति है किन्तु द्वितीय दंड के निष्पादन से उद्भूत शक्ति है जो किसी व्यक्ति को परिरोध में रखती है जिसका अर्थ यह कि वारंट का निष्पादन किया गया है। ऐसे व्यक्ति जिनका कर्त्तव्य किसी व्यक्ति को कारावास दिए जाने के लिए निर्दिष्ट व्यक्ति को वंचित करना है, उसे स्वतन्त्र रहने की उसकी स्वतन्त्रता से वंचित करना है और उसे वारंट के निष्पादन में परिरोध में रखना खंड 3 में समाविष्ट होगा। इस दलील को स्वीकार करना कठिन है कि निकाय के रूप से विधान सभा सदस्य किसी व्यक्ति को परिरोध में रख सकता है तथापि, अर्सकिन में द्वारा लिखित पार्लियामेंटरी प्रैक्टीसेज, बीसवें संस्करण में कुछ उद्धरणों में तथा कोल और शकधर द्वारा लिखित प्रैक्टीसेज एंड प्रोसीजर ऑफ पार्लियामेंट, तृतीय संस्करण में भी कुछ उद्धरणों का निर्देश किया गया था। लेखकों ने पृष्ठ 208 पर यह मत व्यक्त किया कि 'राज्य के विधान मंडल के प्रत्येक सदन को विशेषाधिकार के मामलों पर व्यक्तियों की उपस्थिति सुनिश्चित करने और विशेषाधिकार के भंग या सदन के अवमान के लिए दंडित करने और अपराधी को अभिरक्षा या कारावास की सुपुर्द करने की शक्ति प्राप्त है"। पृष्ठ 212 पर यह मत व्यक्त किया गया

था कि "प्रत्येक सदन को अपने आदेशों को प्रवृत्त करने की शक्ति प्राप्त है जिसमें उसके अधिकारियों को जब आवश्यक हो उस प्रयोजन के लिए मकान के दरवाजे तोड़ना और अवमान कार्यवाहियों के संबंध में उसके वारंट निष्पादित करने की शक्ति भी सम्मिलित है"। हम यह समझने में असफल हैं कि किस प्रकार ये मत हमारी किसी व्यक्ति को परिरोध में रखने के लिए सशक्त" अभिव्यक्ति को समझने में हमारी सहायता करते हैं। विस्तृत रूप से कहते हुए इस अभिव्यक्ति में पुलिस और कारागार का अधिकारी यदि विधि की बाध्यता के अधीन या उस पद के कारण किसी व्यक्ति को अभिरक्षा में लेने या परिरोध में रखने वाले अधिकारी समाविष्ट हैं। एम० पी० द्विवेदी के मामले में इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि धारा 21 के सातवें और आठवें खंड ऐसे व्यक्तियों के रूप में हैं जो मुख्यत: निर्णय करने के कार्य करती है। यह कहना कि विधान सभा सदस्य अपने पद के कारण का निर्णय करने का कार्य या कारावास अधिकारियों का कर्त्तव्य करता भाषा का निरादर करने के अतिरिक्त हैसियत में उसको कम करना है। इसके अतिरिक्त खंड 3 किसी न्याय-निर्णायक कर्तव्य के बारे में नहीं कहता। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें ऐसी स्थितियां सम्मिलित हैं जहां कि किसी दांडिक कार्य में न्याय-निर्णायक कर्तव्य के प्रारंभ का यह अधिकार अंतिम स्थिति सम्मिलित हो जो कारावास का दंडादेश अधिरोपित कर सके और उसके पद के कारण उसके द्वारा उन्मोचित किए जाने के लिए कर्तव्य के प्रयोग में कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को परिरुद्ध में रख सकता है। **होमी डी० मिस्त्री** बनाम **श्री नफीसुल्ल हसन और अन्य**[1], **हरेन्द्र नाथ बरुआ** बनाम **देवकांत बरूआ और अन्य**[2] और **अडवर्ड कैले** बनाम **विलियम कारसन जान केंट और अन्य**[3] के मामलों में विनिश्चय इस पहलू पर मुश्किल से प्रकाश डालते हैं। इसलिए यह दलील कि विधान सभा सदस्य लोक सेवक होने के लिए धारा 21 के खंड 7 में समाविष्ट होगा नामंजूर की जानी चाहिए।

67. जैसा कि हमारे समक्ष प्रस्तुत की गई है विभिन्न दृष्टकोणों से उस दलील की सूक्ष्म परीक्षा करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि विधान सभा सदस्य भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 के खण्ड (12) (क) के खण्ड (3) और (7) की अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक नहीं है।

---

[1] आई० एल० आर० 1957, बाम्बे, 218.

[2] ए० आई० आर० 1959, असम 160,

[3] [1841-42] 4 मूरे प्रिवी कौंसिल केसिज 63.

68. **(च) और (छ) के बारे में** : विद्वान् न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष अभिलिखित करने के पश्चात् कि विधान सभा सदस्य खण्ड (12) (क) के व्यापकार्थ के भीतर लोक सेवक है और आगे यह निष्कर्ष अभिलिखित किया कि चूंकि उस तारीख को जिसको की न्यायालय से संज्ञान करने के लिए कहा गया था अभियुक्त लोक सेवक था आगे इस बात की परीक्षा की कि क्या 1947 के अधिनियम की धारा 6 में प्रगणित अपराधों का संज्ञान करने के लिए पूर्वापेक्षा है जिसका उसके द्वारा किए जाने का अभिकथन किया गया है। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि संज्ञान किए जाने से पहले मंजूरी आवश्यक है। अनुमान के रूप में उसने इस बात का अन्वेषण करने और पहचान करने की कार्यवाही की कि मंजूरी अधिकारी कौन है जो विधान सभा सदस्य की हैसियत में अभियुक्त के अभियोजन के लिए धारा 6 द्वारा यथा अपेक्षित विधिमान्य मंजूरी देने के लिए सक्षम होगा। हमने अपना निष्कर्ष अभिव्यक्त कर दिया है कि जहां अपराध जैसा कि धारा 6 में उपवर्णित किए गए हैं के बारे में किसी लोक सेवक द्वारा किए जाने का अभिकथन किया गया है केवल उस प्राधिकारी की मंजूरी आवश्यक होगी जो उसे उस पद से हटाने का हकदार होगा जिसके बारे में भ्रष्ट हेतुक के लिए दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किए जाने का अभिकथन किया गया है। यदि अभियुक्त उस तारीख तक उस पद को धारण करने से समाप्त हो गया है तो न्यायालय को उन अपराधों का संज्ञान करने के लिए कहा जाता है जिनके ऐसे लोक सेवक द्वारा किए जाने का अभिकथन किया गया है। धारा 6 के अधीन कोई मंजूरी इस तथ्य के होते हुए भी आवश्यक नहीं होगी कि वह सुसंगत तारीख को अन्य पद धारण कर रहा होगा जो उसे धारा 21 में समझे जाने वाला लोक सेवक बनाता है यदि ऐसा कोई अभिकथन नहीं है कि उस पद का भ्रष्ट हेतुकों के लिए दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया गया है। परिवाद में अभिकथन सभी इस बारे में हैं कि अभियुक्त ने भ्रष्ट हेतुकों के लिए मुख्य मंत्री के रूप में अपने पद का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग किया था। जिस समय न्यायालय को उन अपराधों का संज्ञान करने के लिए कहा गया, अभियुक्त मुख्य मंत्री के पद पर नहीं रहा था। उसका अभियोजन करने के लिए मंजूरी महाराष्ट्र के राज्यपाल द्वारा दी गई थी, किन्तु यह पहलू यह निष्कर्ष निकालने के लिए असंगत माना गया था कि उस तारीख को जिसको कि न्यायालय ने अभियुक्त द्वारा किए जाने के लिए अभिकथित अपराधों का संज्ञान किया था, धारा 6 के अधीन उसका अभियोजन करने के लिए किसी मंजूरी की आवश्यकता नहीं थी। मान लीजिए कि कोई विधान सभा सदस्य अभियुक्त धारा 21 के अधीन लोक सेवक होगा ऐसे किसी अभिकथन की अनुपस्थिति में कि उसने विधान सभा सदस्य के रूप में अपने पद का दुरुपयोग

या दुष्प्रयोग किया है, यह पहलू निरर्थक हो जाता है। फिर धारा 6 भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161, 164, 165 और 1947 के अधिनियम की धारा 5 के अधीन दण्डनीय अपराधों के लिए लोक सेवक का अभियोजन करने के लिए विधिमान्य मंजूरी के अस्तित्व की उपधारणा करती है, यदि उनके बारे में लोक सेवक द्वारा किए जाने का अभिकथन किया गया है। हमारे इस और निष्कर्ष के दृष्टिकोण से कि विधान सभा सदस्य भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 में अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक नहीं है, उसके द्वारा किए जाने के लिए अभिकथित अपराधों के लिए उसके अभियोजन हेतु किसी मंजूरी की आवश्यकता नहीं है।

69. हमारे द्वारा निकाले गए इस निष्कर्ष के दृष्टिकोण से हम इस बात को अभिनिश्चित करना अनावश्यक समझते हैं कि विधान सभा सदस्य के अभियोजन की मंजूरी देने के लिए जैसा कि धारा 6 में प्रकल्पित है, सक्षम प्राधिकारी कौन है। यद्यपि स्पष्टतया इस बात को माना गया है कि काफी समय सक्षम मंजूरी प्राधिकारी की तलाश में बात-चीतों में बिता दिया गया। महत्वपूर्ण प्रश्न अब शैक्षणिक हित का प्रश्न बन गया है। हम इस संचित दूरदर्शिता पर जमे रहना चाहते हैं जो इस न्यायालय का सुनिश्चित व्यवहार बन गया है कि शैक्षणिक प्रश्नों का विनिश्चय न किया जाए। इस प्रश्न को खुला छोड़ा जाता है।

70. समाप्त करने से पहले इस बात को स्पष्ट कर देना चाहिए कि अक्सर इस निर्णय के क्रम में हमने "विधान सभा सदस्य का" पद शब्दों का प्रयोग किया है। इस बात पर बहस की गई है कि क्या विधान सभा सदस्य आसन धारण करता है या पद। पद अभिव्यक्ति के हमारे प्रयोग का अर्थ इस अर्थान्वयन में नहीं किया जाना चाहिए जो हमने स्वीकार किया है कि विधान सभा सदस्य की स्थिति को उचित रूप से लोक पद या उस मामले के लिए पद धारण करने वाला परिभाषित किया जा सकता है।

71. संक्षेप में विद्वान् विशेष न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित करके स्पष्टतया गलती की है कि विधान सभा सदस्य धारा (12) (क) में अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत लोक सेवक है और आगे यह अभिनिर्धारित करने में गलती की है कि महाराष्ट्र की विधान सभा या सदस्यों के बहुमत की मंजूरी अभियुक्त द्वारा किए गए अपराधों का संज्ञान करने के लिए पुरोभाव्य शर्त है। इसमें कथित कारणों के लिए दोनों निष्कर्ष पूर्णतया न चलने योग्य हैं और अभिखण्डित और अपास्त किए जाने चाहिएं।

1984(2) eILR(PAT) SC 1

72. तदनुसार अपील सफल होती है और मंजूर की जाती है। 25 जुलाई, 1983 का विद्वान् विशेष न्यायाधीश श्री आर० बी० सुले का आदेश और विनिश्चय जिसमें 1982 के विशेष मामला सं० 24 और 1983 के विशेष मामला सं० 3 में अभियुक्त को उन्मुक्त कर दिया गया था, तदनुसार अपास्त किए जाते हैं और उस चरण से आगे कार्यवाही होगी जहां से अभियुक्त को उन्मुक्त किया गया था।

73. अभियुक्त एक प्रमुख राज्य—महाराष्ट्र राज्य—का मुख्य मंत्री था। 11 सितम्बर, 1981 में किए गए अभियोजन के द्वारा उसके चरित्र और सत्यनिष्ठा को प्रश्नगत किया गया है लगभग 2-1/2 वर्ष हो चुके अब तक एक इंच भी मामला आगे नहीं बढ़ा है। अभियुक्त और अनुच्छेद 21 के आदेश के हित में शीघ्र विचारण अनिवार्य है। दांडिक मामले का शीघ्र निपटान अभियोजन और अभियुक्त दोनों के हित में है। इसलिए 1982 का विशेष मामला सं० 24 और 1983 का विशेष मामला सं० 3 जो विशेष न्यायाधीश, ग्रेटर मुम्बई श्री आर० बी० सुले के न्यायालय में लम्बित हैं, वापस लिए जाते हैं और मुम्बई उच्च न्यायालय को उसके विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति से इस अनुरोध के साथ अन्तरित किए जाते हैं कि वे इन दो मामलों को उच्च न्यायालय के पीठासीन न्यायमूर्ति को सौंपे। इस प्रकार सौंपे जाने पर विद्वान् न्यायमूर्ति मामलों के तुरंत निपटान की कार्यवाही करेंगे, विशेष रूप से दिन-प्रति-दिन विचारण करके।

स०/-

अपील मंजूर की गई।